

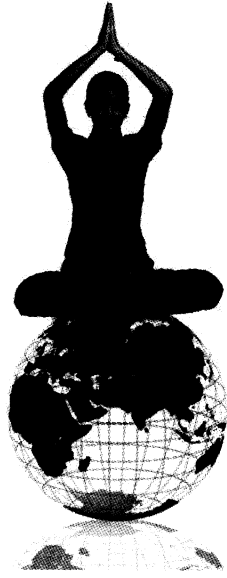


ध्यान योग

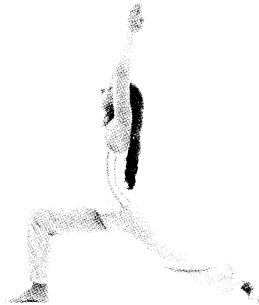
विधि और वचन



महोपाध्याय
ललितप्रभ सागर

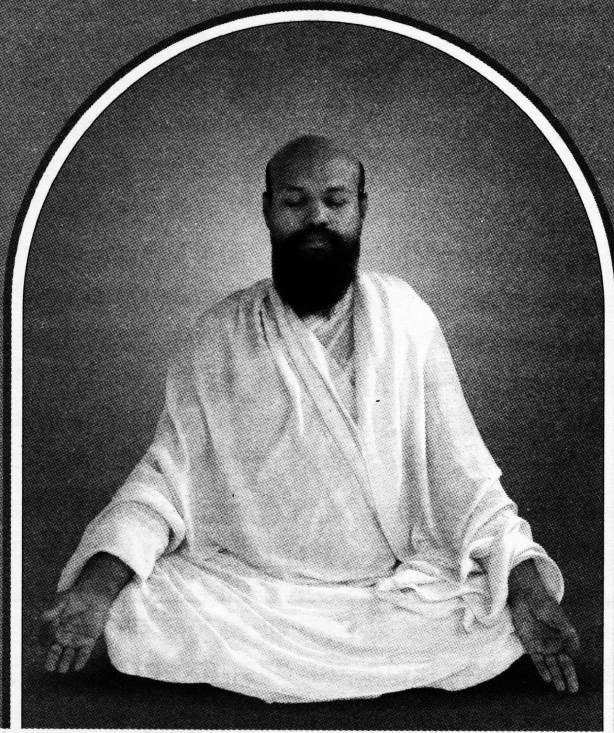


जीवन को इस तरह जिँ कि हमारे
चलने-फिरने, उठने-बैठने, खाने-पीने और
हँसने-मुस्कुराने में भी ध्यान की आभा हो।



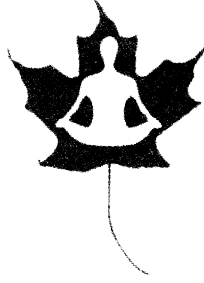
ध्यानयोग विधि और वचन

ध्यानयोग के व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक पहलुओं को
उजागर करने वाली एक शानदार पुस्तक



महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

ध्यानयोग : विधि और वचन
श्री ललितप्रभ



प्रकाशन वर्ष : अक्टूबर 2012

प्रकाशक : श्री जितयशा श्री फाउंडेशन
बी-7, अनुकम्पा द्वितीय, एम. आई. रोड, जयपुर (राज.)

आशीष : गणिवर श्री महिमाप्रभ सागर जी म.

मुद्रक : चौधरी ऑफसेट, उदयपुर

मूल्य : 40/-



मनुष्य के उच्च विकास और विश्व के संपूर्ण भविष्य की सुरक्षा के लिए हमें उन श्रेष्ठ मार्गों को स्वीकार करना होगा, जो न केवल हमारी उच्छृंखल वृत्तियों पर अंकुश लगाए वरन् हमें उस परम चेतना और पराशक्तियों से संबद्ध करे, जिससे हम जीवन की दिव्यता और परम सुख को जी सकें, धरती की भावी पीढ़ियों के लिए यह पृथ्वीग्रह स्वर्ग साबित हो सके।

ध्यानयोग एक ऐसा मार्ग है जो मनुष्य को उसकी आत्मसत्ता तो प्रदान करता ही है, समग्र अस्तित्व के साथ एकाकार करते हुए मनुष्य को उसके जन्म और जीवन की सार्थकता प्रदान करता है। मनुष्य विश्व की इकाई ही सही, लेकिन ध्यान को जीने वाला व्यक्ति संपूर्ण विश्व में अपना ही प्रतिबिंब देखता है। वह अपने से संबद्ध होकर सारे जगत् से अंतर्संबद्ध हो जाता है। संबद्धता जहाँ अस्तित्वगत हो जाती है वहीं मनुष्य की मुक्ति का आधार भी वही बनती है।

ध्यान ससीम में असीम का, नश्वरता में शाश्वतता का और काया में कायनात के दर्शन का आधार है। मनुष्य पंच महाभूत का पिंड कहलाता है। जबकि वह ऐसा निर्माण है जिसमें पृथ्वी भी है, वायु भी है, जल भी है, आकाश भी है। उसमें पंच महाभूत तो हैं ही वह महाचेतना का स्वामी भी है। मनुष्य माटी का दीया है, लेकिन दीया ही नहीं, दीये की ज्योति भी है। मनुष्य केवल मंदिर ही नहीं, वरन् मंदिर का देवता भी है। वह केवल बादल ही नहीं, बादल में समाया इंद्रधनुष भी है। ध्यान यानी चेतना में जीने का आनंद, ध्यान यानी चेतना की यात्रा, उस चेतना की जिसे मैंने ज्योति की संज्ञा दी, देवत्व और इंद्रधनुष का रूपक बनाया।

जो ध्यान से जीयेगा वह अंतर्बोध से जीयेगा। ध्यान का मार्ग उनके लिए है, जो देह और मन के पार स्थित सत्ता के प्रति निष्ठाशील हैं। मन के पार जो सत्ता है उसकी ओर उठने वाली अंतर्दृष्टि ही ध्यान है। ध्यान चैतन्य-स्वरूप के प्रति सजग होने का उपाय है। हम ध्यान के मार्ग पर आएँ, ध्यान को आत्मसात् करें, हम शांत मन के स्वामी तो होंगे ही, बुद्धि से बढ़कर उच्च प्रज्ञा के प्रकाश के अधिपति भी होंगे। जीवन में अद्भुत सुख, शांति और सौंदर्य होगा।

ध्यान योग : विधि और वचन ग्रंथ की यही भूमिका है और यही उपसंहार भी। ध्यान की चेतना को उपलब्ध करने के लिए, ध्यान की समझ को आत्मसात् करने के लिए, ध्यान का गुरु तलाशने के लिए प्रस्तुत ग्रंथ अपने आप में जीवन-साधना का राजद्वार है। अगर कोई पूछे कि साधना के पथ पर गुरु का सहयोग न मिले तो मुझे किसका सहयोग लेना चाहिए। मेरा सुझाव होगा कृपया आप यह ग्रंथ अपने साथ रखें, इसे पढ़ें, पचाएँ। साधना का पथ वैसे ही प्रशस्त होता जाएगा जैसे मंजिल की ओर बढ़ते हुए राहगीर के हाथ में कंदील हो। प्रस्तुत ग्रंथ साधना पथ का मील का पत्थर है। संबोधि ध्यान की समझ को आम लोगों के समक्ष रखने में प्रस्तुत ग्रंथ सहकारी और अमृतोपम है।

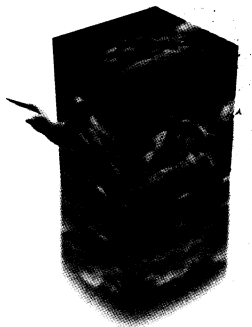
समादरणीय संतप्रवर महोपाध्याय श्री ललितप्रभ सागर जी आत्म-श्रेयस् के साथ विश्व-श्रेयस् की ओर अग्रसर हैं। उनकी अमृत सेवाओं के लिए समाज तो ऋणी है ही, अध्यात्म के उन्मुक्त क्षितिज भी उनका अभिनंदन करते रहेंगे। उन्होंने अपने प्रभावी उद्बोधनों से जन-जन को लाभान्वित और रूपांतरित किया है। उनकी सौम्यता, सरलता और ओजस्विता साधक को उनके साथ एकाकार कर देती है। असली श्रद्धा और रसमयता तभी जन्म लेती है जब जीवन समर्पित करने वाले को गुरुजन अपने साथ ठीक वैसे ही एकाकार कर लेते हैं जैसे भगवान की ओर से भक्त मीरा, सूर और चैतन्य।

ग्रंथ में संबोधि-ध्यान-शिविर के विधि-प्रयोग भी सम्मिलित हैं। इससे ग्रंथ की उपयोगिता और बढ़ी है। हम सभी चेतना के स्वामी और जीवन मंदिर के देवता हों, इसी सद्भावना के साथ ग्रंथ-लेखक का सादर सस्नेह अभिवादन !

-श्री चन्द्रप्रभ



1. ध्यान : आत्म-बोध का आयाम	9-16
2. करें, अन्तस् का स्पर्श	17-24
3. स्वयं की तलाश	25-39
4. करें, जीवन का विश्लेषण	40-48
5. ऊर्जा की सघनता	49-59
6. निजता के दर्शन	60-71
7. भीतर की चाँदनी	72-80
8. दीप जले जागरण का	81-92
9. साक्षी की सजगता	93-104
10. साधना का सूत्र : अप्रमाद	105-118
11. अन्तर-शुद्धि : जीवन-मुक्ति	119-126
12. ध्यानयोग विधि-1	127-141
13. ध्यानयोग विधि-2	142-150





ध्यान : आत्म-बोध का आयाम

एक युवक मेरे पास आया। उसने पूछा- मेरे कुछ यक्ष-प्रश्न हैं, जिनका मैं समाधान चाहता हूँ। मेरे प्रश्न जीवन और मृत्यु के बारे में हैं। मैं मुस्कराया। मैंने कहा- मेरे पास जीवन के तो समाधान हैं। मृत्यु से मैं गुजरा नहीं हूँ, सो मृत्यु के प्रश्न निरुत्तर रहेंगे। फिर, सच तो यह है कि जीवन के प्रश्नों का उत्तर न पा सकना स्वयं मृत्यु है। उसने कहा, धन्यवाद! मेरे प्रश्न तिरोहित हो गये। मुझे मेरे प्रश्नों का जवाब मिल गया - जीवन से जुड़े प्रश्नों का भी और मृत्यु से सम्बद्ध प्रश्नों का भी।

मानवजाति की दुविधा यह है कि उसने जीवन के समाधान कम, परलोक के समाधान अधिक तलाशे हैं। उसका मनन मृत्यु पर केन्द्रित रहता है। दुनिया भर के शास्त्र मृत्यु की अवधारणा, उसके फल, उसकी आकांक्षा और उसके निचोड़ों से भरे हुए हैं। इनमें जीवन की चर्चा कम ही है। कोई नरक के नक्शे बना रहा है, तो कोई स्वर्ग के, तो कोई परलोक या आकाश और पाताल के। जीवन के नक्शे और नक्शेकदम पर चलने वाले कितने हैं? जीवन का सत्य तो यह है कि जिसने जीवन का शास्त्र नहीं पढ़ा, वह मृत्यु का शास्त्र कैसे पढ़ पाएगा? जिसने जीवन को न जाना, वह मृत्यु को कैसे जानेगा। जो जीवन का ज्ञाता न बन पाया, वह मृत्यु का ज्ञाता बन जाए, संभव नहीं है।

मेरी दृष्टि में तो जिसे हम सर्वथा झूठ कह सकें, वह मृत्यु है। दुनिया का एक झूठ है मृत्यु, क्योंकि मृत्यु कभी होती ही नहीं। मृत्यु दिखने में सत्य,

पर हकीकत में असत्य ।

मृत्यु अंधकार है । प्रकाश का न होना ही अंधकार का रहना है । जीवन की मृत्यु घटित होती ही नहीं । भारत की मनीषा ने आत्मा को अजर-अमर बताया है । इसलिए जिसकी मृत्यु होती है वह तुम नहीं होते । तुम जो हो उस तत्त्व की कभी मृत्यु नहीं होती । तुम्हारे भीतर जो सचेतन तत्त्व है, उसकी न कभी मृत्यु हुई है और न मृत्यु हो सकती है । वह शाश्वत है । जीवंत है । न इस तत्त्व का कभी जन्म हुआ और न मृत्यु होती है । जन्म और मृत्यु दोनों देह के होते हैं, चेतना के नहीं । चेतना न जन्मती है और न मृत होती है, वह शाश्वत रहती है । आत्म-चेतना जन्म और मृत्यु दोनों द्वारों से गुजरकर भी दोनों से अछूती रहती है, अस्पृष्य है !

जब चैतन्य सदा है, तो हमारे जीवन के अंधकार को दूर करने की आवश्यकता है । हमारा चिन्तन, जो मृत्यु को लेकर है, उसे बदलना होगा । अन्यथा वह मृत्यु की धारणा से स्वयं को जीवनपर्यन्त ग्रसित रखेगा और जीवन के वास्तविक आनन्द से वंचित रह जाएगा । जीवन को जीवन्तता से जीने के लिए, मृत्यु के भय से मुक्त होना होगा । इसलिए धर्म को जीवन से, प्रेम से, अहोभाव से स्वीकार करना चाहिए, किसी भय या पूर्वाग्रह से नहीं । भयभीत चित्त कभी धार्मिक नहीं हो सकता । वह प्रेम और आनन्द उपलब्ध नहीं कर पाएगा । जैसे घर में बालक को कहा जाए कि वह प्रतिदिन एक पृष्ठ सुलेख लिखे अन्यथा साँझ को पिटाई होगी, तो वह बालक पिटाई के भय से कार्य करेगा, पर उसका आनन्द, उसका रस खो जाएगा । हमारी भी यही स्थिति है । हम न जाने किन-किन विचारों, अन्धविश्वासों और रूढ़ियों से ग्रस्त होकर, भय से धार्मिक बनने की चेष्टा करते हैं । यह अलग बात है कि हम सच्चे धार्मिक हो नहीं पाते । सिर्फ धार्मिक होने का दिखावा भर कर पाते हैं ।

आप जब भी रास्तों से गुजरते हैं, बीच में आने वाले मंदिरों, दरगाहों में हाथ जोड़ते चले जाते हैं । कभी आपने सोचा, आप यह क्या कर रहे हैं? आज जब आप ऐसा करें, तो क्षण भर ठहर जाना और सोचना आप क्या कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं? कहीं आपका भय ही तो प्रेरित नहीं कर रहा है कि अगर ऐसे ही निकल गये, तो न जाने क्या अनर्थ हो जाएगा । कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि तुम अपनी धुन में आगे चले जाते हो फिर एकाएक वह मंदिर याद आता है और तुम भय से भरे हुए वापस लौटते हो । यह तुम्हारा भयभीत मन है । अगर तुम ऐसे ही निकल जाओ बिना हाथ जोड़े तो भी तुम्हारा कुछ बिगड़ने वाला नहीं है । तुम्हारा भय तुमसे सारे धार्मिक कृत्य करवाता है ।

आपने देखा है, जो धर्म रूढ़ रस्मों में फँसे रहते हैं, उनमें वह सौम्यता कहाँ

छलकती है, जिसे हम प्रमोद-भाव कहते हैं, वे सिर्फ क्रियाकाण्डों में तल्लीन रहते हैं क्योंकि भीतर एक गहन भय भरा हुआ है। वे चोरी इसलिए नहीं करते क्योंकि यह अमानवीय है बल्कि इसलिए कि दूसरे भव में जाना है जहाँ नरक भी हो सकता है। भय के कारण चोरी नहीं करते। हमारे धर्माचरण के साथ भय या प्रलोभन जुड़े हुए हैं। ईमानदारी से देखो, तुम पाओगे कि तुम्हारे सारे धार्मिक कृत्य या तो भय या प्रलोभन से जुड़े हुए हैं या लोभ की आकांक्षा से। तुम पाप नहीं करते क्योंकि नरक में जाने का भय है और पुण्य इसलिए करते हो कि स्वर्ग में जाने का प्रलोभन है। दान भी इसीलिए देते हो कि स्वर्ग में जाने की आकांक्षा है। यहाँ किए हुए का वहाँ लाभ मिले, कर्मकांड के पीछे यही उद्देश्य है।

मनुष्य जीवन भर स्वर्ग और नरक की मीमांसा में ही लगा रहता है और जो जीवन का आध्यात्मिक अंतरंग है उससे वंचित रहकर अपने जीवन को नरक बना लेता है। धर्म का संबंध तो जीवन के साथ होना चाहिए। तभी तो महावीर ने कहा, 'वत्थु सहावो धम्मो' – जो आत्मा का स्वभाव है, वही धर्म है। और चेतना का स्वभाव कभी उससे अलग नहीं होता। अगर आप उबलते हुए पानी को अग्नि पर डालेंगे तो क्या आग जलती रह सकेगा? नहीं। क्योंकि पानी का स्वभाव शीतल है, भले ही वह उबल रहा हो, फिर भी वह अग्नि को बुझाएगा ही। और अग्नि का स्वभाव ऊष्णता है, वह तो पानी को भी भाप बनाकर उड़ा देगी। जलती लकड़ी चाहे गीली हो तो भी वह हाथ जलाएगी ही। जैसे पानी का स्वभाव शीतल और अग्नि का ऊष्ण है, ठीक वैसे ही स्वर्गिक आनन्द, मुक्ति का आनन्द आत्मा का स्वभाव है। लेकिन हम अंधकार में जी रहे हैं। प्रकाश उपलब्ध करने की कोशिश नहीं कर रहे हैं। अंधकार में जी रहे हैं और अंधकार के दर्शन को प्रकाश की पहल मान रहे हैं।

कल्पना कीजिए कि आप एक अँधेरे कमरे में हैं और रात भर लकड़ी से अंधकार को पीटते रहे तो अंधकार को तिलमात्र भी दूर कर पाएँगे? लकड़ी टूट जाएगी, शरीर थक जाएगा पर अंधकार वैसा का वैसा ही रहेगा। इस अँधेरे को दूर करने के लिए न नरक का भय मन में लाओ, न स्वर्ग का प्रलोभन जीवन में लाओ। बस केवल आत्मा की ज्योति उजागर करो। अगर अँधेरे से छुटकारा पाना चाहते हो तो सिर्फ ज्योति की आवश्यकता है, लकड़ी से पीटने पर कुछ न होगा। तुम्हारे जीवन में अगर अंधकार है, तो उससे लड़ने से कुछ न होगा। प्रकाश का अभाव ही अंधकार है। पहल हो प्रकाश की, ज्योतिर्मयता की।

एक बार ऐसा ही हुआ, अंधकार भगवान के पास गया और कहा, इस सूर्य ने मेरे जीवन में आफत कर रखी है। रोज सुबह आता है और मुझे भगा देता है। कभी-कभी

तो ठीक है, माफ किया जा सकता है, लेकिन यह तो मुझे रोज ही भगा देता है। भगवान ने कहा, ठीक है तुम जाओ, मैं सूर्य को बुलाता हूँ। भगवान ने सूर्य को बुलाया और कहा, तुम प्रतिदिन अंधकार को तंग क्यों करते हो? वह अगर धरती पर जीना चाहता है, तो तुम उसे क्यों परेशान करते हो? सूर्य ने कहा, मैं आपकी बात मान लेता हूँ, आप अंधकार को बुला दीजिए, मैं उससे क्षमा माँग लूँगा। लेकिन यह तो कभी संभव नहीं हो सकता कि जहाँ सूर्य हो वहाँ अंधकार प्रवेश कर पाए। सूर्य तो क्षमा माँगने को तैयार है लेकिन अँधेरा उसके सामने आए तो सही! जिसने अपने जीवन में, अपने अस्तित्व में कहीं कोई भोर कर ली, सूर्योदय कर लिया, लाख कोशिश करने के बावजूद अंधकार उसके आगे-पीछे नहीं फटक पाएगा। इसलिए अंधकार की व्याख्याओं को पीछे जाने दो और प्रकाश की पहल करो।

तुम्हारा जीवन कैसे आलोकित हो सकता है, उस प्रकाश-पुंज के बारे में सोचो। तुम सदा ही अंधकार और मृत्यु के बारे में सोचते रहे हो। जब तक तुम इनकी ही व्याख्या करते रहोगे, तब तक जीवन के बारे में नहीं जान पाओगे। जीवन को, जीवन की अच्छाइयों को, प्रकाश को कभी उपलब्ध नहीं कर पाओगे। सच्चाई तो यह है कि तुम मृत्यु से बहुत भयभीत हो। तुम्हारे घर में पानी गर्म करने का हीटर लगा हुआ हो, तो तुम उस पानी को छूने के लिए तैयार नहीं, इतने सावधान। पहले स्विच बंद करोगे, हीटर को बाहर निकालोगे, तब देखोगे कि पानी कितना गर्म हुआ, मृत्यु के प्रति कितने सावधान। मृत्यु के भय के कारण तुम जीवन भर सावचेत रहते हो। एक-एक कदम फूँक-फूँक कर रखते हो। पर क्या हम मृत्यु के पार अमृत-जीवन के प्रति भी इतने ही सचेत हैं?

सच बोल नहीं पाते और झूठ बोलने से डरते नहीं, ईमानदारी तो बरत नहीं पाते और बेईमानी करने में हिचकिचाते नहीं। जीने के रूप में जी नहीं पाते और मरने के नाम पर मरने से बचते रहते हैं। अच्छा होगा, हम अपने जीवन में मृत्यु का नहीं, जीवन का पाठ पढ़ने की कोशिश करें। जीवन की पोथी बाँचें। यह ध्यान-शिविर जीवन का पाठ पढ़ने का ही आयोजन है। मैं चाहता हूँ कि आप अंधकार से निकलकर प्रकाश का, प्रकाशमय जीवन का रसास्वाद करें। स्वर्ग का प्रलोभन और नरक का भय आपको यहाँ लाए, यह मैं नहीं चाहता। जीवन में कुछ पाना है, स्वयं को उपलब्ध होना है, तो इन दोनों को दूर हटाना होगा। ध्यान की गहराइयों को पाने के लिए दोनों से निरपेक्ष रहना होगा। स्वयं सापेक्ष होना होगा।

मुझे हँसी आती है, जब मैं भय और प्रलोभन के किस्से सुनता हूँ। बुद्धि पर तरस आता है, जो इन अर्थहीन बातों को मानने को तैयार रहती है। लोगों को ब्रह्मचर्य की

शिक्षा दी जाती है, क्योंकि स्वर्ग में अप्सरा मिलेगी। अपरिग्रह से स्वर्ग की अपार संपदा और वैभव के मालिक बनोगे। मनुष्य के प्रत्येक कृत्य के साथ प्रलोभन की बातें जुड़ गईं, और इसका परिणाम यह हुआ कि जीवन के लिए कोई 'त्याग' नहीं हुआ। अगर त्यागा भी तो कल्पित सुख पाने के लिए या कल्पित नरक से बचने के लिए। जीवन का कहीं कोई आविष्कार नहीं हो पाया।

बीसवीं शताब्दी में भारत में दो महापुरुष हुए हैं। एक गांधी और दूसरे अरविन्द। गांधी का दर्शन रहा कि एक-एक व्यक्ति को जगाओ, प्रत्येक को सचेतन करो, हर एक के अंदर पुण्य के भाव आग्रत करो। अरविन्द ने कहा, कुछ चुने हुए लोगों को जगा दो। वे गिने-चुने लोग ही सारी धरती को प्रकाशवान कर देंगे। दीये से दीया जले, एक बात। दीयों से दीये जले, यह ज्यादा बेहतर। अरविन्द की बात ज्यादा सटीक है। तुम तो कुछ ज्योतियाँ जला दो क्योंकि हरेक को जाग्रत करना संभव नहीं। उसमें भी यह भारत, जहाँ भले ही ध्यान के, अध्यात्म के, धर्म के बीज अंकुरित हुए हों लेकिन मेरे देखे आज की तारीख में देशी आदमी की बनिस्बत विदेशी आदमी ध्यान को जल्दी आत्मसात कर लेता है।

मैंने पाया है कि किसी भारतीय को छह घंटे भी ध्यान के बारे में समझा दो, वह आधा घंटा भी ध्यान नहीं कर पाएगा, लेकिन किसी विदेशी को आधा घंटा ध्यान के बारे में बताने पर वह अपना पूरा जीवन ध्यान को समर्पित कर देता है। आत्म-जिज्ञासा से अन्तर-जगत में उतरोगे तो शांति को, प्रकाश को पा सकोगे अन्यथा मूर्च्छा में पड़े रहोगे। मूर्च्छा से अमूर्च्छा में आओ तो ही दीप ज्योतिर्मय हो सकेंगे। मेरी यह आकांक्षा नहीं है कि मैं लाखों दीये जलाऊँ, मैं इस धरती से जाते-जाते अगर सौ दीपक प्रज्वलित कर पाया, तो मेरी जीवन-साधना मानवता के लिए सफल हुई मानो।

कहते हैं कि विवेकानन्द जब मृत्यु-शय्या पर थे, तब उनके मन में एक शिकायत थी कि मैंने अपने जीवन में भक्तों की भीड़ तो जुटा ली, पर वे दीप न जला पाया, जो मेरी ज्योति की पहचान बन सकें। विवेकानन्द के हृदय में यह टीस-कसक रह गई कि वे सौ दीपक भी प्रज्वलित न कर पाए। उन्होंने अपनी डायरी में लिखा- जो व्यक्ति सौ दीपक भी जलाकर चला जाएगा, उससे भारत प्रकाशित हो जाएगा। यह उनके अंतिम वचन थे। ऐसे ही, मैं तो सिर्फ सौ व्यक्तियों की चेतना जाग्रत करना चाहता हूँ और अगर इतना कर पाया तो जीवन की साधना धन्य हो जाएगी।

और फिर, मैं अपने जीवन में जीवन के बारे में सोचता हूँ, उसे जानने का प्रयास करता हूँ, मृत्यु के बारे में नहीं। क्योंकि मेरा अटल विश्वास है कि जीवन की कभी मृत्यु नहीं हो सकती। अगर जीवन की मृत्यु होती है, तो अमृत-पुरुषों के अनुभव

झुठला दिए जाएँगे। अगर जीवन की, चेतना की, आत्मा की मृत्यु होती है, तो इसका अर्थ यह होगा कि दुनिया के सभी ग्रन्थ, जो आत्मा को अजर-अमर-अविनाशी-शाश्वत कहते हैं, अनुभव से विपरीत सिद्ध हो जाएँगे। पर आश्चर्य की बात तो यह है कि दुनिया में मृत्यु से वही सबसे ज्यादा भयभीत हैं, जो मानते हैं कि आत्मा की कभी मृत्यु नहीं होती। पर यह सब वे सिर्फ जानते नहीं, मानते हैं। रोज गीता का पाठ पढ़ते हैं – **नैनं छिंदन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः** – न इसे कोई काट सकता है, न कोई इसका छेदन कर सकता है, न इसे कोई जला सकता है- फिर भी सबसे ज्यादा वे ही मृत्यु से भयभीत हैं। अर्थात् उनके जीवन और शास्त्रों के सिद्धान्त भिन्न-भिन्न हैं।

मैं नहीं चाहता कि मेरे आस-पास कोरे माटी के, बिना बाती के सैकड़ों दीपक सजे पड़े हो। मेरे लिए तो प्रज्वलित बीस दीपक ही पर्याप्त हैं। मैंने कल एक महानुभाव से कहा भी था कि मेरे जाने के बाद हो सकता है आप ध्यान-शिविर लगायें और आप उसमें अकेले हों। यह मेरे लिए आनन्द का विषय होगा। एक जलता हुआ दीया भी अंधकार को दूर करने में समर्थ होता है। बुझे दीपक फना हो जाएँगे। लाखों बुझे दीपकों से जलता हुआ एक चिराग ही काफी है। इन सभी ध्यान-शिविरों के आयोजन का यही ध्येय है कि कहीं किसी अन्तर में, किसी कोने में, किसी व्यक्तित्व में सत्य की ज्योति उजागर हो जाए।

मैं जानता हूँ, जब भी इस प्रकार की स्वयं को जाग्रत करने की अभीप्सा उत्पन्न होगी, लोग विमुख करार देंगे। वे परम्परा से विमुख कहेंगे। वे पूछेंगे यह कौन-सा धर्म है कि सबसे अलग चला जा रहा है। इस जगत् का तो यही स्वभाव है। ध्यान भीड़ से विमुख होने का ही तो विज्ञान है। पागलों की जमात में अगर समझदार भी पैदा हो गए तो पागल ही समझे जाएँगे।

इस दुनिया की जमात में हम बँधे-बँधाये क्रम के हिस्से हो गए हैं। पैदा होते हैं शिशु के रूप में, धीरे-धीरे बड़े होते चले जाते हैं। शिशु से बालक, बालक से किशोर, किशोर से युवा, युवा से प्रौढ़ और फिर वृद्ध हो जाते हैं। एक दिन पीले पत्ते की तरह गिर जाते हैं। हमारे कपड़े पुराने होने चले हैं और कपड़ों की तरह यह शरीर भी पुराना होता चला जाता है। यह नश्वर काया धीरे-धीरे पीछे छूटती चली जा रही है। इस नश्वर काया में जो सचेतन पदार्थ समाया हुआ है, उससे अगर कहीं कुछ मेलजोल कर लेते हैं, चित्त की प्रवृत्तियों से स्वयं को ऊपर उठा लेते हैं, तो यह जीवन की आत्मिक उपलब्धि होगी, अन्यथा जीवन भेड़धसान-सा व्यतीत हो जाएगा। एक दिन इसकी कहानी खत्म हो जाएगी। कुछ शेष रहने वाला नहीं है। सुदूर ऊँचाई पर पानी की टंकी रखी है, नीचे लगा हुआ नल खुला है। पानी रिस रहा है, एक क्षण ऐसा

भी आएगा जब पूरी टंकी खाली हो जाएगी और पानी आना बंद हो जाएगा। यही स्थिति हमारी भी हो जाएगी। जब सारे रस सूख जाएँगे।

हमारी आत्मा स्थूल व सूक्ष्म दो शरीरों में जीती है। जब आत्मा स्थूल शरीर से मुक्त हो जाती है, तब सूक्ष्म शरीर उसके साथ रहता है और दूसरी योनि में जाकर अपने शरीर को धारण कर लेता है। सूक्ष्म शरीर सदा हमारे साथ रहता है, इसलिए हम अपने बाह्य स्थूल शरीर की उज्ज्वलता के प्रति अधिक जागरूक न रहकर, संभव हो तो अपने आन्तरिक सूक्ष्म शरीर की उज्ज्वलता की ओर अधिक ध्यान दें। अन्यथा यह सत्य है कि इस काया को आज तक कोई बचा नहीं पाया है। यह हमसे छूटती जा रही है, निरन्तर अलग होती जा रही है। इसलिए बचा सकें, तो स्वयं को बचा लें। कहीं ऐसा न हो कि माल को तो बचा लें और मालिक ही हाथ से छिटक जाए। मालिक के बिना बटोरे हुए माल की क्या कीमत? जब हम देह छोड़ रहे होंगे, तब पचास लाख की उपयोगिता? जब मालकियत ही चली गई तो सब व्यर्थ है। माल बचे या खो जाए, क्या फ़र्क पड़ता है, अगर हम बच गए तो जीवन की उपलब्धि होगी।

कहते हैं एक घर में आग लग गई। लोग भीतर जाने लगे और ढूँढ़-ढूँढ़ कर सामान लाने लगे। घर का सारा सामान बाहर आ गया। परिवार ने सोचा, आग लग गई, कोई बात नहीं सामान तो बच गया। अचानक पत्नी को याद आया, छोटा मुन्ना तो कहीं दिखाई नहीं दे रहा, उसने पति से पूछा, छोटा मुन्ना कहाँ है। पति ने कहा, अरे, वह तो कमरे में ही सोया रह गया।

अब इस माल का क्या करेंगे, जब मालिक ही जल गया। तुमने सारा माल बचा लिया और जो मालिक था, वह ही न रहा तो माल को बचाने का औचित्य क्या है? हमारे साथ भी जीवन की यही सच्चाई घटित होने वाली है। जीवन की सांध्य-वेला में यही प्रतीति होने वाली है कि जीवन भर बेकार ही वस्तुओं को इकट्ठा करने में लगे रहे। मकान, दुकान तो बनवा दिये, लेकिन जीवन का मंदिर न बना पाए। माल तो जमा किया और मालकियत खो बैठे।

ध्यान का संदेश यही है कि व्यक्ति जीवन में मालिक को बचाने की कोशिश करे। यहाँ बैठकर जो उपलब्धि होगा वह जीवन, चेतना और आत्म-तत्त्व होगा। जिसके सामने भौतिक उपलब्धि नगण्य होगी। ध्यान का उद्देश्य यही है कि आप स्वयं को उपलब्ध हो जाएँ। जो व्यक्ति ध्यान में जीता है उसका वरण मृत्यु नहीं करती, मृत्यु के द्वार से भी वह अमरत्व को उपलब्ध होता है।

महावीर ने इसी स्थिति को विशुद्ध सामायिक कहा है। स्थितप्रज्ञ स्थिति। ध्यान

तुम्हें इसी अवस्था को उपलब्ध कराता है। ध्यान से न तो स्वर्ग की अप्सराएँ मिलेंगी और न नरक की यंत्रणाएँ। ध्यान तो तुम्हें पाप और पुण्य से मुक्त करके दृष्टा को उपलब्ध कराता है। मोक्ष और निर्वाण दिलाता है। ध्यान उस दशा का नाम है, जब व्यक्ति शुभ-अशुभ दोनों ही विचारों से ऊपर उठकर शुद्धता को उपलब्ध होता है। पाप और पुण्य दोनों आनन्द भाव में विलीन हो जाते हैं। अगर यह सही है कि मृत्यु के समय जो भाव होते हैं, शरीर को वैसी ही गति मिलती है। तो मेरे प्रभु, ध्यान में डूब जाओ। यदि आपकी मृत्यु ध्यान में होती है, तो वह जीवन का समाधि-मरण होगा। निर्वाण और मोक्ष उसी दशा का नाम है, जब व्यक्ति निर्विचार-निर्विकार हो जाता है।

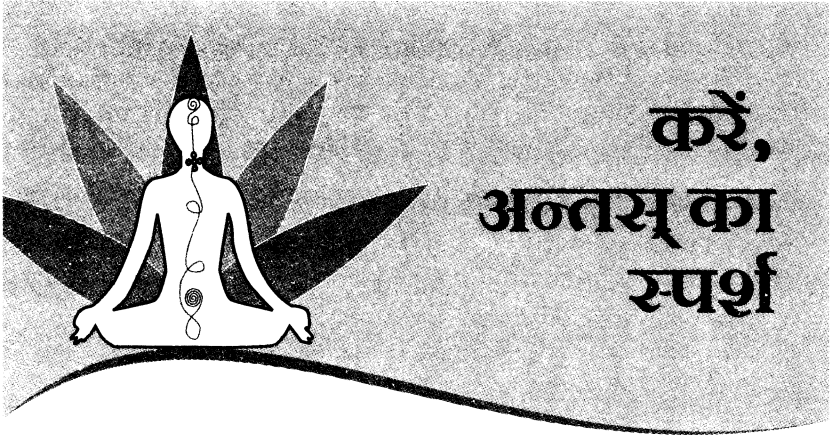
मुझसे प्रायः यह पूछा जाता है कि आपने इतने ध्यान-शिविर लगाए, सैकड़ों व्यक्तियों ने ध्यान किया। क्या, किसी को किन्हीं देवी-देवता के दर्शन हुए? मैं कहूँगा, एक ध्यान-साधक व्यक्ति जो निर्विचार स्थिति को पा रहा है, उससे बढ़कर देवी-देवता का मूल्य नहीं हो सकता। जिसका चित्त शांत हुआ है, मन विकल्पों से रहित हुआ है, वह निर्विचार समाधि में पहुँच गया है, तो वह देव और दानव दोनों से विदेह हुआ। वह दोनों में भेद नहीं करेगा। इसलिए ध्यान-साधना में देवों के नहीं अपितु स्वयं के दर्शन करना है। तुम लाखों को देखकर भी क्या देख पाए, अगर स्वयं को न देख पाए। किसी मंत्र का जाप करके, मालाएँ गिनकर देव-दर्शन तो कर लोगे, पर अगर उस देव से कहा जाए कि मुझे निज-स्वरूप का दर्शन करवा दो, तो शायद वह भी न करा पाएगा।

आप पर्युषण में सुनते हैं कि महावीर के पास इन्द्र आते हैं और कहते हैं, 'भगवन्! आपके भावी जीवन में बहुत से विघ्न आएँगे, अगर आप आज्ञा दें तो मैं आपके साथ रहूँ और आपके विघ्नों का निवारण करता रहूँ।' महावीर ने कहा, 'इन्द्र! कोई भी महापुरुष इस दुनिया में देवों के सहारे आत्म-दर्शन नहीं कर पाया। आत्म-दर्शन व्यक्ति को स्वयं करना पड़ेगा। ये देव-देवियाँ भी प्रलोभन हैं, इनका सहयोग भी कैवल्य में बाधक है। ध्यान पर-पदार्थ से मुक्त होकर स्व में डूबने की प्रक्रिया है।'

ध्यान 'पर' से मुक्ति और 'स्व' में निवास करने की प्रक्रिया है। वे धन्य हैं, जो ध्यान में उतर रहे हैं। जो जितना गहरा उतरेगा उसे ध्यान के मोती उपलब्ध होंगे। यह ध्यान का सागर है, डूबते चले जाओ गहरे और गहरे। उथले रह गए तो तिनके ही हाथ लगेंगे। डूब गए तो कुछ रत्न, कुछ मोती हाथ लग जाएँगे।

'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ' – तट पर खड़े कुछ न पा सकोगे। जितने गहरे उतरोगे, पर से मुक्त होकर स्व में प्रविष्ट हो सकोगे।





जीवन एक तलाश है; सुख की तलाश, शांति की तलाश, आनन्द की तलाश ! मनुष्य यह तलाश जगत में करता है। अपने से हटकर और अपने को खोकर औरों में रहता है। अपनी इस यात्रा में मनुष्य किसी हद तक सुख को तो उपलब्ध कर लेता है, लेकिन शांति और आनन्द से वंचित रहता है। स्वभाव से हटकर विभाव में जीने का परिणाम यह आता है कि विभाव-दशा में जीते हुए वह अपनी स्वभाव-दशा को ही विस्मृत कर बैठता है और विभाव को ही स्वभाव मान लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि जीवन 'जीवन' से छूटकर मात्र संसार से बँधा-बँधाया रह जाता है। जो इन्द्रिय-गोचर होता है, बस उसी को प्रत्यक्ष मानकर सत्य स्वरूप समझ लिया जाता है।

जैन-परम्परा में ज्ञान के दो स्वरूप निर्धारित किये गये हैं – प्रत्यक्ष और परोक्ष। इनका अर्थ जानकर कुछ अजीब लगेगा, लेकिन यह सच्चाई है। जैन परंपरा में परोक्ष ज्ञान वह है जो इन्द्रियजन्य है और प्रत्यक्ष-ज्ञान वह है जो आत्मजन्य है। जो ज्ञान इन्द्रियों की सहायता से प्राप्त होता है, महावीर ने उसे परोक्ष माना है क्योंकि इन्द्रियाँ किसी भी वस्तु का सर्वांगीण सर्वेक्षण नहीं कर सकतीं। इसलिए वह अधूरा और असत्य-मिश्रित हो सकता है। जो ज्ञान इंद्रियातीत होता है, महावीर ने उसे प्रत्यक्ष कहा है। उस ज्ञान में साधक इन्द्रियों से मुक्त होकर सीधा आत्मा से संपर्क स्थापित कर लेता है। त्रैकालिक सत्य उसकी दिव्य चेतना में प्रतिबिंबित होना

प्रारंभ हो जाता है।

मनुष्य प्रायः परोक्ष में ही जीता है। दैहिक इन्द्रियों या मन की वृत्तियों में ही उसके जीवन का अधिकांश भाग पूर्ण हो जाता है। वह सुखानुभूति तो कर सकता है, पर शांति और आनन्द उससे दूर रह जाते हैं। शास्त्रों का स्वाध्याय करके या अपनी तर्क-बुद्धि के द्वारा पंडित तो बन सकता है, पर सत्य के आनन्द की साधना नहीं कर सकता। आनन्द न देह का स्वभाव है, न मन का, वह तो आत्मा का स्वभाव है। हम प्रतिदिन ध्यान में संकीर्तन करते हैं, 'सहजानन्दी शुद्ध स्वरूपी अविनाशी हूँ आत्मा हूँ' - यह इस सत्य की अभिव्यक्ति है कि सहज आनन्द आत्मा का निज स्वभाव है। जो स्वभाव से हटकर परभाव में जी रहा है, जो तनिक भी आत्मा के करीब नहीं पहुँच पाया, वह भला उसके मूल स्वभाव, आनन्द से कैसे परिचित हो पाएगा। इसलिए इस धरती पर जितने विचारक हुए, सबके विचार अलग-अलग हो सकते हैं, उनकी जीवन-शैली अलग हो सकती है, लेकिन आत्मानन्दी स्वभाव सबका एकसम है।

शरीर के साथ जब तक तादात्म्य-बुद्धि बनी रहेगी या जब तक मन का संपर्क-सूत्र कायम रहेगा, तब तक हम दुःख या सुख में घिरे रहेंगे और ये दोनों जब हट जायेंगे, तो भीतर का आनन्द स्वतः स्फुटित होगा।

हम सुख-दुःख में जीते हैं। ये दोनों पर के निमित्त से अपने अस्तित्व का रूपान्तरण करते रहते हैं। सुख कभी दुःख में बदल जाता है और दुःख कभी सुख में बदल जाता है। लेकिन जो अंतर के आनन्द को पहचान चुका है, भीतर के वैभव को पा चुका है, उसके जीवन में न तो कभी सुख हावी हो सकता है और न कभी दुःख।

इसे हम यों समझें, जैसे किसी व्यक्ति ने दैनिक समाचार-पत्र में लॉटरी का विज्ञापन पढ़ा और लॉटरी खरीद ली। कुछ दिन बाद लॉटरी खुली तो आश्चर्यचकित रह गया यह पढ़कर कि प्रथम पुरस्कार उसी के नाम खुला है। सुबह से साँझ तक उसका चित्त प्रसन्नता से सराबोर रहा, एक लाख का इनाम जो खुल आया था। और प्रसन्नता में इतना झूम गया कि उसने साँझ को परिजनों को भोजन पर आमन्त्रित कर लिया और दो-तीन हजार रुपये खर्च भी कर डाले। रात भर वह खुश-मिजाज बना रहा और कल्पनाओं के आकाश में उड़ानें भरता रहा, पर उसकी खुशियों पर तब पानी फिर गया, जब सुबह समाचार-पत्र में पुनः विज्ञापन था कि कल जो पुरस्कार घोषित किये गये थे उसमें प्रथम पुरस्कार का अंतिम अंक दो की बजाय तीन था। अब संशोधित विज्ञापन पढ़कर उसके पाँवों तले से जमीन ही खिसक गई। लगा जैसे किसी ने उसके साथ धोखा कर दिया है। सुबह तक जो लॉटरी सुख का कारण बनी

थी, समाचार-पत्र पढ़कर वही दुःख का कारण बन गई। इसलिए सुख और दुःख उसी व्यक्ति को घेर पाते हैं, जो बहिर्मुखी है, बाहर की वृत्तियों में जीता है।

यह ध्यान-शिविर शरीर और मन के पार पहुँचकर आत्मानंद को उपलब्ध करने के लिए है। कोरे अच्छे विचारों को पालने से जीवन का कायाकल्प नहीं हो सकता। हम केवल बाह्य विचारों में जीते रह गये, तो अच्छे विचारक तो बन जायेंगे, पर अपने स्वभाव से, अन्तस् चेतना की सुवास से फिर भी विलग ही रह जायेंगे।

तथागत बुद्ध के बारे में कहते हैं कि वे यात्रा कर रहे थे। किसी आदमी के पाँव में कील गड़ गई। बुद्ध उसे निकालने लगे। उसने कहा- मैं कील पीछे निकलाऊँगा, पहले यह बताओ कि यह कील किसने गड़ायी। यह विषैली है या नहीं? बुद्ध ने कहा- वत्स, अपनी तार्किक बुद्धि तो पीछे लगा लेना, पहले कील निकलवा लो, पीछे विचार करते रहेंगे किसने गड़ायी, क्यों गड़ायी।

हमारी खोज मात्र विचारों तक ही सीमित न रहे, उससे भी ऊपर होनी चाहिए। हमारी खोज काँटे से छुटकारे की खोज हो, जीवन-मुक्ति की खोज हो। अगर हम सोचते हैं कि परभाव में जीकर हम मुक्ति पा सकेंगे या दुनियादारी में उलझकर आनन्द पा सकेंगे, तो यह हमारी भूल है।

दुःख के हजार निमित्त हैं। एक निमित्त को दूर करोगे, दूसरे का पीछा हो जायेगा। इस तरह तुम जिंदगी भर एक-एक निमित्त को दूर करते रहोगे, पर तुम्हें दुःख से मुक्ति नहीं मिल पाएगी। इसलिए हमें तलाश करनी है उस उत्स की, मूल कारण की, जहाँ से सारे दुःख उत्पन्न होते हैं। अगर तुम अन्तर्दृष्टि को उपलब्ध कर लो, तो तुम्हें पता लगेगा कि दुःख का मूल कारण आत्मा का शरीर और मन के प्रति तादात्म्य-भाव का जुड़ना है। जिस दिन तादात्म्य-भाव समाप्त हो जाये, उस दिन मृत्यु का भय छूट जायेगा। जीवन के सुख-दुःख छूट जायेंगे, हम निजानंद लीन हो जाएँगे।

कहते हैं सिकंदर जब विश्व-विजय पाने यूनान से रवाना हुआ तो कुछ आध्यात्मिक मित्रों ने बताया कि अगर विश्व-विजय यात्रा के दौरान तुम्हारा भारत जाना हो, तो वहाँ से तुम्हारी जो इच्छा हो ले लेना, पर एक संन्यासी को अवश्य साथ लेते आना। सिकंदर भारत पहुँचा और विजय प्राप्ति के बाद जब वापस जाने की तैयारी करने लगा, तो उसे अपने मित्रों की वह बात याद आई कि भारत से लौटते वक्त किसी संन्यासी को लेते आना। जहाँ वह ठहरा था, उसके निकटवर्ती गाँव में खबर की कि कोई संन्यासी हो तो उसे मैं ले जाना चाहता हूँ। गाँव के लोगों ने कहा- काफी कठिन काम है। यहाँ संन्यासी तो है, लेकिन उन्हें यूनान ले जाना काफी

कठिन है।

आखिर सिकंदर ने पता लगाया एक संन्यासी का। उसने सिपाही भेजे और कहा कि उसे पकड़कर ले आओ। सिपाही पहुँचे फकीर के पास और कहा- सिकंदर महान् का आदेश है कि आप हमारे साथ चलें।

फकीर हँसने लगा। उसने कहा- जो खुद को महान् समझ रहा है, उससे बढ़कर नासमझ कौन हो सकता है। कौन है वह सिकंदर, जो अपने आपको महान् कहता है? सिपाही एक क्षण तो सकपका गये कि दुनिया में अभी तक कोई व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जो सिकंदर की महानता पर प्रश्नचिन्ह लगा सके। यह नंगा फकीर सिकंदर की महानता का उपहास कर रहा है। उन सिपाहियों ने कहा- तुमने अगर इस तरह बात की तो हम तुम्हारी गर्दन धड़ से अलग कर देंगे। फकीर मुस्कराया, कहा- तुम क्या काटोगे मेरी गर्दन को! मैं तो बहुत पहले इससे अलग हो चुका हूँ। तुम जाओ, अपने मालिक को बुला लाओ। हम तुम्हारे मालिक से ही बात करेंगे।

सिपाही गये सिकंदर के पास और जाकर सारी बात बताई। कहा कि गजब का फकीर है। हमारा वश उस पर नहीं चलेगा। हम किसी को तलवार से भयभीत कर सकते हैं और वह आदमी तो मृत्यु से तनिक भी नहीं डरता।

सिकंदर खुद गया। उसने जाते ही अपनी तलवार उस फकीर की गर्दन पर रख दी और कहा कि चलते हो या गर्दन अलग कर दूँ। फकीर ने कहा- अगर कर सकते हो तो गर्दन को ही अलग कर दो। बड़ा मजा आयेगा कि तुम और मैं दोनों गर्दन को गिरते देखेंगे।

सिकंदर ने कौतूहल से पूछा- तुम भी देखोगे गर्दन कटते हुए! फकीर ने कहा- हाँ, मैं भी देखूँगा। क्योंकि अब यह गर्दन 'मैं' नहीं हूँ। जब से यह सत्य मैंने जाना है तब से कोई भी सिकंदर या सिकंदर की तलवार मुझे डरा नहीं सकती। तुम अपनी तलवार को म्यान में रख दो और शांति से जीवन जीओ।

कहते हैं कि सिकंदर के जीवन में यह पहला मौका था, जब किसी के कठोर शब्दों को सुनकर भी उसने अपनी तलवार भीतर रख दी। भला जिसे यह बोध हो चुका है कि शरीर और आत्मा दोनों भिन्न-भिन्न हैं, उसे दुनिया की कोई तलवार कैसे डरा सकती है।

जीवन में जहाँ ऐसा तादात्म्य-भाव टूट जाता है, वहाँ दुःख समाप्त हो जाता है। दुःख तादात्म्य के कारण पैदा होता है। जिसका तादात्म्य-भाव समाप्त हो गया, दुःख उससे अपने आप छिटक जाते हैं। हम देह-भाव में जीते रहते हैं। नतीजतन हमारी नजरें केवल वहीं तक जाकर सीमित रह जाती हैं। हम पहचान नहीं पाते कि देह के

पार मैं क्या हूँ? मन के पार मेरा क्या अस्तित्व है?

देह वस्त्र की भाँति है। वह कभी भी फट सकता है। अगर हमने वस्त्र को भी शाश्वत या अभिन्न मान लिया है तो बात और है। वस्त्र पहनने का मतलब यह नहीं कि हम केवल वस्त्रों तक ही सीमित रह जायें, हमारा अस्तित्व उसमें छिपकर, दबकर रह जाये, जैसी गंदी काया पर उजले वस्त्र शोभा नहीं पाते हैं, वैसे ही अपवित्र आत्मा पर उजली काया शोभा कैसे पा सकती है। हम केवल बाहर के सौंदर्य तक सीमित रह जाते हैं, बिना यह सोचे कि इसके कारण हमारा आंतरिक सौंदर्य समाप्त होता जा रहा है।

हम पहचानें अपने 'मेकअप' के पीछे की परतों को। कहीं हमारा अन्तर-सौंदर्य, आन्तरिक प्रतिभा दबाकर तो नहीं रखी जा रही है। मकान जल रहा है और हम सुरक्षित बच गये हैं तो समझो कुछ नहीं जला है। शरीर भी मकान की तरह है। हजार दफा इसके मृत्यु के द्वार से गुजर जाने के बावजूद आत्मा की शाश्वतता पर कोई आँच नहीं आती। 'मैं देह हूँ'- इस भाव के कारण हम चेतना का स्पर्श नहीं कर पाते हैं।

शरीर और आत्मा- इन दोनों के बीच एक फासला है, लेकिन यह हमारा अज्ञान है कि इसे हम समझ नहीं पाये हैं। दोनों में एकरूपता को कायम किये चल रहे हैं। नारियल का गोटा और उसकी ठीकरी दोनों भले ही एक दूसरे से सटे हुए हैं, लेकिन इसके बावजूद दोनों का अस्तित्व अलग-अलग है। गोटा अलग है और ठीकरी अलग है। आत्मा का स्वभाव भी ऐसा ही है। भले ही वह देह से जुड़ी है, इसके बावजूद वह ठीकरी और गोटे की तरह देह से अलग है।

मैं अलग हूँ और शरीर अलग है, इसका सतत स्मरण जीवन में होना चाहिए, प्रत्येक घटना-दुर्घटना के साथ, प्रत्येक कृत्य के साथ। अगर निरंतर हमारे भीतर यह बोध रहता है कि मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ तो देह पर आने वाली किसी भी अनुकूलता-प्रतिकूलता का प्रभाव आत्मा पर नहीं आ सकता। हमारे यहाँ कहते हैं-विवेक से चलो। इसका अर्थ केवल इतना ही नहीं होता कि कीड़े-मकोड़ों को बचाकर चलो। हमें इसका अर्थ-विस्तार करना चाहिए। विवेक से चलने का विशेष अर्थ होता है, शरीर चल रहा है, पर मैं स्थिर हूँ। मैं साक्षी हूँ, दृष्टा हूँ। जो साक्षित्व में नहीं है, मनोमुक्त नहीं हो पाया, वह भले ही खड़ा रहे पर चल रहा है। लेकिन जो दृष्टा-भाव में उतर आया है, वह भले ही चलता रहे, पर इसके बावजूद वह स्थिर है।

हम आदर्श-पुरुषों के विचारों का मात्र संग्रह न करें। आप देखते हैं कि कई लोग यहाँ बैठे डायरी में नोट्स लिख रहे हैं। मात्र अच्छे विचारों के संग्रह से होगा भी क्या?

अगर हमें कोई अच्छी बात लग रही है तो उसे कागज की डायरी की बजाए, आचरण की डायरी में नोट करने का प्रयास करें। उनको स्वयं में उतारने की कोशिश करें।

यह मनुष्य का अज्ञान है कि जो प्रत्यक्ष रूप में प्रकट है, वही उसे दिखाई देता है। जो अप्रकट है, उसका निरीक्षण वह नहीं कर पाता है। जो प्रकट पर ठहर जाता है, वह अन्तर का स्पर्श नहीं कर पाता। भीतर की चेतना की सुवास को प्राप्त नहीं कर पाता और परिणामस्वरूप उसे लगता है कि मेरा जो कुछ है बाहर है, भीतर तो केवल अँधेरा है। जब तक अदृश्य का अर्थ नहीं जान पाते हैं, हम, तब तक भला हम उससे ताल्लुकात कैसे बैठा पायेंगे।

अब लोगों के प्रश्नों को देखो। उनके भीतर की जिज्ञासाओं को देखो। कोई कहता है कि महावीर कब पैदा हुए? किससे शादी की? उनका परिवार क्या है? महावीर के दीक्षा ले लेने के बाद उनकी पत्नी का क्या हुआ? अब एक व्यक्ति इतनी-सी खोज भर करने के लिए अपना पूरा समय लगा देता है। आप पूछो कि इससे उसे क्या मिलेगा! कल एक सज्जन पूछ रहे थे कि महावीर उम्र में बड़े थे या बुद्ध? अब इसका समाधान पाने से तुम्हें क्या मिलेगा? कोई फर्क नहीं पड़ेगा कि कौन छोटा था या कौन बड़ा? आत्म-चिंतन तो इस बात के लिए करो कि हम अपने जीवन में महावीर की अन्तर्दशा को उपलब्ध कर पाए हैं या नहीं कर पाए हैं। हम आदर्श पुरुषों के इतिहास के बारे में बहुत खोजबीन कर लेते हैं, पर उनके आदर्शों से अनभिज्ञ रह जाते हैं। यह निरीक्षण करो कि महावीर के जीवन में साधना कैसे घटित हुई? ध्यान कैसे उतरा? किस विधि से उन्होंने चेतना की अंतिम स्थिति का स्पर्श किया? कैसे जीवन जीया कि उनका बीज वृक्ष बन गया? हम नहीं समझ पाये महावीर की अन्तस् चेतना को। अगर अन्तस् चेतना को समझ लिया जाता है तो हम मात्र महावीर के अनुयायी ही नहीं, अपितु स्वयं महावीर हो सकते थे। हमारी छाया के नीचे भी हजारों लोगों को विश्राम मिल सकता था, लेकिन हम अपने आपको वहाँ तक न पहुँचा पाए।

हमने महावीर के उपवासों की तो चर्चा की कि महावीर ने छः महीने उपवास किये, ऋषभदेव ने बारह महीनों तक उपवास किये, पर हम न तो इसका चिंतन कर पाए और न ही जिक्र कर पाए कि इन उपवासों की मूलात्मा क्या थी? महावीर का उद्देश्य मात्र भूखे रहने का नहीं था। आत्मवास करना उनका उद्देश्य था। हम चरित्र लिखते समय आत्मवास को भूल गये। हमें उनके उपवास दिखाई दिये, उनकी अन्तस्-चेतना दिखाई न दी। इसका परिणाम यह निकला कि हमने महावीर के बाह्य व्यक्तित्व का तो जिक्र कर लिया पर आन्तरिक व्यक्तित्व, भीतर के वैभव से

हम एकतार नहीं हो पाये। हम केवल बाहर तक सीमित रह गये, भीतर तक न उतर पाये। महावीर के समवशरण या उनके दैविक वैभव का तो बढ़ा-चढ़ाकर हमने वर्णन कर लिया पर महावीर का आंतरिक व्यक्तित्व! मैं समझता हूँ कि महावीर का जीवन-चरित्र लिखने वाले अधिकांश लोग इस मामले में महावीर के प्राणों तक नहीं पहुँचे पाये, वे लोग केवल बाहर तक सीमित रह गये। उसका परिणाम यह निकला कि हमने महावीर के गुणगान तो बहुत कर लिये, पर हमारा अपना जीवन उनके विपरीत बना रहा।

महावीर ने परिग्रह छोड़ा और हम अनाप-शनाप परिग्रह जोड़ रहे हैं। जीसस कहते हैं कि शत्रु को प्रेम करो और हम मित्र को भी ईमानदारी से प्रेम नहीं कर पाते। त्याग के नाम पर भी हमारे जीवन में जो चल रहा है, वह त्याग नहीं है, वह प्रदर्शन-भर है। त्याग में तो सोना भी मिट्टी की तरह छूट जाना चाहिए और हम मिट्टी को भी सोना मान रहे। हमारा त्याग तो जबरदस्ती पेड़ से पत्ते को तोड़ने जैसा हो रहा है। हमारा त्याग ज्ञानमूलक हो। पत्ता पीला पड़ा, स्वतः झड़ गया, बोझा था, छूट गया।

मैंने सुना है : दो संन्यासी किसी यात्रा पर थे। एक वृद्ध था, दूसरा युवक। वृद्ध जहाँ जाता, ठहरता, पूछता रहता कि यहाँ कोई खतरा तो नहीं है। रात को अपनी गठरी सिर के नीचे रखकर सोता। हर पंद्रह मिनट में गठरी के भीतर हाथ डालकर टटोलता। रात जितनी गहरी होती, उतना ही भयभीत चित्त बन जाये वह। युवा संत ने सोचा आखिर बात क्या है? जब देखो तब संत का चित्त भयभीत बना रहता है।

एक दिन संत निवृत्त होने गये थे। जाते-जाते युवा संत से कह गये कि गठरी का पूरा-पूरा ध्यान रखना। इधर-उधर न हो जाना। पीछे से युवा संत ने उस गठरी को खोला कि आखिर राज क्या है इस गठरी में? देखा, भीतर सोने की ईंट थी। युवा संत समझ गया कि फकीर साहब के चित्त के भयभीत रहने का यही कारण है। उसने सोने की ईंट रख दी। उसने गठरी को ज्यों का त्यों वापस तैयार कर रख दिया।

वृद्ध संत वापस आया। उसने गठरी उठाई और दोनों आगे बढ़े। किसी कारणवश तीन-चार दिन बाद संत ने अपनी गठरी खोली। देखा, भीतर में सोने की ईंट नदारद थी और उसकी जगह मिट्टी की ईंट रखी थी। भीतर-ही-भीतर हँसा वह। रात ढलने को आ रही थी। युवा संत ने कहा- फकीर साहब, किसी दूसरे गाँव चलें। यहाँ खतरा हो सकता है, क्योंकि यह जंगल है। वृद्ध संत ने मुस्कराकर कहा- अब भला खतरा किस बात का, सोना ही माटी निकल गया।

जिस दिन बोध हो जाये हमें कि सोना माटी है, उस दिन ही मुक्त हो पाओगे तुम सोने से ओर सोने की आसक्ति से। इसलिए अगर जीवन में आनन्द को उपलब्ध

करना चाहते हो, जीवन की धन्यता पाना चाहते हो, जीवन को एक उत्सव का रूप देना चाहते हो, तो इसके लिए जरूरत इस बात की है कि जीवन के कृत्य सहज बन जाएँ ताकि हम अपने आपको बंधन-मुक्त महसूस कर सकें।

मनुष्य चाहे तो अन्तस्-चेतना को उपलब्ध कर सकता है, वहीं वह भौतिकता की चकाचौंध में ही उलझकर रह जाता है तो उसका जीवन गर्त बन जाता है। मनुष्य पूर्ण इकाई नहीं है। यह तो पशु और प्रभु के बीच की कड़ी है। निर्णय तुम्हारे हाथ में है कि तुम प्रभुता को पाना चाहते हो या पशुता को। स्वयं को महावीर बनाना चाहते हो या अपना महाविनाश करना चाहते हो। पाप या पवित्रता दो ही विकल्प हैं मनुष्य के लिए। पशु कभी गिरता नहीं है क्योंकि वह पशु है। वह पशुता से नीचे क्या गिरेगा। मनुष्य ही गिरता-उठता है। मनुष्य अपना निर्माण करने के लिए स्वतंत्र है। वह जीवन को चाहे जैसा मोड़ दे सकता है। उज्वलता का भी और अंधकार का भी। मनुष्य निम्न से निम्नतम हो सकता है और श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम भी।

मनुष्य अंतिम ऊँचाई को भी छू सकता है और अंतिम तल को भी। पशु सिर्फ पशु है। उसके पास न तो पशुता से ऊपर उठने की क्षमता है और न नीचे गिरने की। वह थिर है, परंतु मनुष्य के साथ ऐसा नहीं है। यह ध्यान-शिविर हमारी ऊर्जा को जागृत करके उसका सदुपयोग करने का प्रयास है। प्रभु से प्रार्थना है कि वह इस अभियान में आपको सफलता दे। हमारा जीवन केवल चिंतन और विचार तक सीमित न रहे, अपितु आँख खोलकर देखने का भी अभियान हो।

जब महावीर महावीर हो सकते हैं, बुद्ध बुद्ध हो सकते हैं तो हम उन ऊँचाइयों को क्यों नहीं छू सकते। हमें, जो भीतर बैठा है, उसके दर्शन करने हैं। जो भीतर है उसे तलाशना है, तराशना है। प्रभु करे कि दृष्टा रह जाये और दृश्य हट जाये। पर हट जाये और स्व का स्व में बसेरा हो जाये। तुम अतिथि नहीं आतिथेय हो, तुम स्वामी हो अपने आपके, अन्तर के वैभव के। एक न एक दिन सब अतिथियों को जाना है। अगर हमने अपने आपको आतिथेय बना लिया है तो हमें जाने की आवश्यकता न होगी। हम स्वयं को स्वयं में प्रतिष्ठित कर लें। अगर ऐसा हो सकता है, तो हमारी काया प्रभु की प्रतिमा बन जायेगी और इस काया में रहने वाली आत्मा उसी प्राण-प्रतिमा में प्रतिष्ठित होकर दिव्य स्वरूप को उपलब्ध परात्मा बन जायेगी।





मनुष्यजाति का विकास सम्पूर्ण विश्व का विकास है। उसकी उन्नति और पतन सम्पूर्ण विश्व के उत्थान और पतन है। विश्व के ग्लोब में कौन-सा रंग कैसा है, यह बात गौण है। मुख्य तो यह है कि इस ग्लोब के भीतर जो मनुष्य अवतरित हो रहे हैं वे कैसे जी रहे हैं। जब हम अपने अतीत को देखते हैं, तो पाते हैं कि उसने मनुष्य के विकास की जितनी संभावनाएँ थीं, आज उसने अपने बौद्धिक और भौतिक स्तर पर बहुत कुछ पूरी भी कर लीं।

यह मनुष्यजाति का सौभाग्य है कि पूरा विश्व सिमट कर घर के भीतर आ गया है। अमेरिका या अफ्रीका में कोई घटना घटती है तो हम उसे घर में बैठे देख सकते हैं। इस विकास की क्षमता पर हमें गौरव होना चाहिए। महाभारत में तो केवल एक घटना मिलती है जब धृतराष्ट्र महाभारत के युद्ध को देखने में सक्षम नहीं हैं और संजय महल में बैठे-बैठे ही उस घटनाक्रम को निहार लेता है और आँखों देखा हाल धृतराष्ट्र को सुनाता है। तब यह क्षमता केवल एक व्यक्ति, संजय के पास ही थी लेकिन आज प्रत्येक के पास यह क्षमता है। किसी समय में युद्ध की सूचनाएँ कई महीनों बाद पहुँचती थीं। लेकिन आज विश्व के किसी भी हिस्से में युद्ध हो, तो यहाँ घर में बैठे ही उस युद्ध को देखा जा सकता है।

धीरे-धीरे मनुष्य की पहुँच का विकास होता जा रहा है। वह चाँद तक जा पहुँचा है। अन्तरिक्ष में यदि कोई ग्रह दूसरे ग्रह से टकराता है, तो कब किन क्षणों में

टकराएगा, इसकी जानकारी उसे पहले से हो जाती है। पर विचारणीय प्रश्न यह है कि मानव चन्द्रलोक तक पहुँचा लेकिन इतने परिश्रम और इतना व्यय करके भी वह वहाँ से क्या लाया? इतने वैज्ञानिकों ने वर्षों तक खोज की, कई लोगों ने अपनी जानें गँवाई, लेकिन उनसे जरा पूछो तो, वहाँ से वापस आते समय तुम क्या साथ लेकर आए? वे कहेंगे कुछ मिट्टी के नमूने लेकर आए। इतना परिश्रम कर वहाँ पहुँचे और लाए क्या? मिट्टी के ढेले। अब उनसे पूछो इतनी मेहनत के बाद भी अगर तुम मिट्टी के कण ही धरती पर लाए, तो क्या मिट्टी के ढेले पाने के लिए ही इतना परिश्रम किया। मनुष्य की यह क्षमता, जो इन्द्रलोक तक पहुँचने की थी, काश वही अन्तरलोक तक पहुँचाने में मदद करती।

मनुष्य की जो क्षमता बाहर कहीं चली जा रही थी, अगर इस चैतन्य को अपने भीतर मोड़ता तो...! चन्द्रलोक से तो वह मिट्टी के ढेले ही लेकर आया, लेकिन अन्तरलोक की यात्रा करने पर निश्चित ही उसे जीवन-जगत् के रहस्य मिल जाते। बाहर के चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रों तक तो मनुष्य पहुँच गया, लेकिन स्वयं तक न पहुँच पाया, निज को न खोज पाया। परिणामतः वह चन्द्रलोक से भी मिट्टी के ढेले लेकर पृथ्वी पर वापस आ गया।

ध्यान मनुष्य को अन्तर्लोक की यात्रा कराता है। इन्सान, जो अब तक अपनी ऊर्जा/शक्ति का उपयोग केवल बाहर के लिए कर रहा है, अपनी चैतन्य-शक्ति का उपयोग पर-पदार्थों या विज्ञान के आविष्कारों के लिए कर रहा है, काश, वह स्वयं के लिए कुछ कर पाता। महान् वैज्ञानिक आइंसटीन, जिसने न जाने कितने मानवोपयोगी आविष्कार किए, लेकिन स्वयं अज्ञात रहस्य बना रह गया। कहते हैं कि जब वह मृत्यु-शय्या पर था, डॉक्टर ने उससे पूछा, तुम महान् वैज्ञानिक हो। सारी दुनिया, जो अँधेरे में सोती थी तुमने प्रकाश की किरण दी, तुमने उसे विद्युत धारा दी, पर एक बात बताओ, आज तुम मृत्यु के करीब हो। तुमने भलीभाँति जीवन-जगत को देखा है। क्या तुम बताना पसंद करोगे कि अगले जन्म में क्या बनना चाहोगे। आइंसटीन ने कहा, मैं नहीं जानता कि पुनर्जन्म होता है या नहीं, लेकिन अगर पुनः जन्म मिले तो मैं परमात्मा से प्रार्थना करूँगा कि वह मुझे चाहे जो बनाए पर वैज्ञानिक न बनाए। डॉक्टर चकित रह गए। आइंसटीन ने कहा, आज मुझे इस बात का गम है कि मैंने विभिन्न प्रकार के आविष्कार किए लेकिन उस तत्त्व का आविष्कार न कर पाया जिसके इस शरीर से निकल जाने के बाद लोग मुझे दफना देंगे।

प्रत्येक वैज्ञानिक के सामने अन्त में यही प्रश्न खड़ा होगा। भला जिसने स्वयं का आविष्कार नहीं किया उसने क्या पाया? जो स्वयं को उपलब्ध नहीं हो पाया, स्वयं को प्राप्त नहीं कर पाया, अपनी चैतन्य-शक्ति को नहीं जान पाया उसने सारी दुनिया

को भी पा लिया तो क्या लाभ? मृत्यु तो उसे सबसे वंचित कर डालेगी।

जो व्यक्ति स्वयं से अनभिज्ञ है, वह बाहरी ज्ञान कितना भी प्राप्त कर ले, वह अस्तित्व बोध से वंचित रहेगा। भगवान महावीर ने आचारांग में कहा, 'जे एगं जाणई से सव्वं जाणई।' यह महावीर द्वारा दिया गया ध्यान-सूत्र – जो एक को जानता है, वह सबको जानता है। जिसने एक को, स्वयं को नहीं जाना वह सब कुछ जानकर भी क्या जान पाया? आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति स्वयं का बोध प्राप्त करे, आत्मबोध। अगर उसने आत्मबोध प्राप्त कर लिया तो विश्व-बोध के द्वार तो स्वतः उघड़ पड़ेंगे।

मनुष्य तो विश्व की एक इकाई है। इसलिए जब वह स्वयं को जान लेगा तो अस्तित्व के अन्तर-रहस्य का बोध स्वतः प्राप्त कर लेगा। ठीक उसी तरह जैसे चावल का एक दाना देखकर हम जान जाते हैं कि पूरी हँडिया के चावल पक गए या कच्चे हैं।

अब मनुष्य परमात्मा की खोज में चल देता है। वह बाहर की ओर, हिमालय की कंदराओं में, घने जंगलों में प्रभु की खोज करता है। कोई हरिद्वार जा रहा है, किसी को बद्री-केदारनाथ का स्मरण आता है। स्वयं को खोजने के लिए बहिर्यात्रा शुरू हो जाती है। वह नहीं जानता कि उसका पहला कदम अन्तर्जगत् की ओर उठना चाहिए।

हमें अपने अन्तर्-अस्तित्व की तलाश करनी है तो सबसे पहले अपने भीतर जमे अज्ञान-अंधकार को कि परमात्मा कहीं बाहर है, आत्मा का अस्तित्व कहीं दूर है और उसकी तलाश भी वहीं जाकर करूँ, इसमें संशोधन करना होगा। हमारे भीतर की इस भावना को भी हटाना होगा कि हिमालय की गुफा में या नदी के किनारे जाकर ध्यान करने पर ही परमात्मा उपलब्ध होगा या स्वयं को जान सकेंगे। नहीं, कहीं जाने की जरूरत नहीं है और न ही मात्र सुबह-शाम कुछ समय के लिए ध्यान करने बैठ जाने से स्वयं को पा सकोगे। ध्यान तो निरंतर चलने वाली सजगता है। ध्यान तो हमारे जीवन में रम जाना चाहिए हमारी परछाई की तरह, साँसों की तरह, धमनियों में खून की तरह। साक्षित्व की सजगता ही ध्यान है।

जीवन की प्रत्येक क्रिया खाना, सोना, उठना, चलना, व्यवसाय सब ध्यान-मूलक हो जाना चाहिए। जब सभी क्रियाएँ ध्यानपूर्वक हो जाएँगी, ध्यान-मूलक हो जाएँगी तो परिणाम यह होगा कि अभी तो हम सुबह-शाम सप्रयास ध्यान करते हैं लेकिन तब चौबीस घंटे ध्यान में जीएँगे। जब शिष्यों ने महावीर से पूछा कि मनुष्य कैसे खाए, कैसे पीये, कैसे चले, कैसे जीये, ताकि उसके पाप-कर्म का बंधन न हो।

महावीर ने कहा- मनुष्य ध्यानपूर्वक भोजन करे, ध्यानपूर्वक चले, ध्यानपूर्वक बैठे, सोये, सारे कृत्य ही ध्यानपूर्वक करे। जो हर कार्य को बोधपूर्वक संपादित करता है, उसके पापकर्म का बंधन नहीं होता।

व्यक्ति गुफा में बैठा है या घर में, फिर यह बात गौण है जब तुम्हारा जीवन ही ध्यानमय है। हिमालय की गुफा में रहने वाला संत भी क्रोध और कषाय को, तृष्णा और लालसा को, काम और वासना को पैदा कर सकता है लेकिन यहाँ घर में रहने वाला, व्यवसाय में जुटा व्यक्ति भी अपने को घर और व्यवसाय से उपरत कर सकता है। पति-पत्नी, संसार-घर सब हमारे भीतर है। पत्नी को विचारों में साथ लेकर हिमालय की गुफा में भी चले जाओगे तो वहाँ अकेले रहते हुए भी संसार में जिओगे और घर में रहकर यदि अनासक्त जीवन अपना लिया है तो संसारी जीवन में भी संन्यास के फूल खिल आएँगे। फिर जहाँ हम होंगे वहीं संन्यास का मार्ग होगा।

कहते हैं भगवान बुद्ध अपनी पत्नी यशोधरा को अमावस्या की अर्धरात्रि में छोड़कर जंगलों में चले गए। परमज्ञान उपलब्ध हुआ। एक दिन विचरण करते हुए भगवान राजमहल पहुँचे। वहाँ यशोधरा भी थी। उसने पूछा, तुम मुझे अर्धरात्रि में छोड़कर क्यों गए थे? बुद्ध ने कहा, सत्य की तलाश में। अब मैं सत्य को उपलब्ध हो चुका हूँ। यशोधरा ने पुनः कहा, बुद्ध तुमने तो परमज्ञान उपलब्ध कर लिया, लेकिन मैं तुमसे एक बात पूछना चाहती हूँ कि जिसे तुमने जंगलों में जाकर उपलब्ध किया, क्या वह राजमहल में रहकर उपलब्ध नहीं कर सकते थे? कहते हैं यशोधरा के इस प्रश्न के जवाब में बुद्ध मौन रहे। उन्होंने वहाँ स्वीकार किया कि यदि व्यक्ति अनासक्त हो चुका है, साक्षित्व गहरा गया है तो वह जहाँ है वहीं रहते हुए परमतत्त्व को, परमज्ञान को, शाश्वत सत्य को उपलब्ध कर सकता है।

हम लोग अभी तक वनों की तलाश कर रहे हैं, स्वयं की तलाश करना भूल गए हैं। स्वयं की तलाश का पहला साधन है- जीवन में अनासक्त-भाव को पैदा करें। जहाँ-जहाँ हमारी आसक्ति के तार जुड़े रहते हैं वहाँ हमारी चित्त की चंचलताओं के सूत्र भी बँध जाते हैं। जैसे-जैसे हमारे संबंध हल्के होंगे, भीतर अनासक्ति का भाव पैदा होगा, वैसे-वैसे हमारे चित्त के, मन की अचंचलता के सूत्र हमारे हाथ में आते जाएँगे और मन खुद ही शांत होता जाएगा। पहले कोलाहल कम होगा और बाद में, धीरे-धीरे शांत हो जाएगा।

हमारे संबंधों का जितना विस्तार होगा, मन की चंचलता का भी विस्तार होता जाएगा। एक बच्चे की अपेक्षा युवक का मन अधिक चंचल होता है और युवक से भी अधिक वृद्ध का। चित्त, मन और विचारों की चंचलता के सूत्र बढ़ते चलते जाते हैं।

एक बच्चे का मन माता-पिता, खिलौने, खेल और खाने तक ही जाएगा। लेकिन एक युवक का चित्त ! कितने-कितने धागे जुड़े हैं चंचलता के लिए। सुबह से साँझ तक मन भटकता ही रहता है। हमने संबंधों का इतना विस्तार किया है कि मन थमने का नाम ही नहीं लेता। जब संबंधों का, राग का फैलाव होगा, तो द्वेष भी साथ में चलेगा। यह राग-द्वेष ही आसक्ति है। आसक्ति के गहन होने पर मानसिक चंचलता और व्यग्रता का विकास होगा, तनाव बढ़ेगा।

कल तक जब मैं आपसे अपरिचित था, आपका चित्त मेरी ओर नहीं आया था। मैं चित्त में प्रकट नहीं हुआ था। आज आपका मुझसे लगाव हो गया है। कल तक आप विवाहित न थे तो विचारों में कभी पत्नी प्रकट नहीं हुई थी। आज विवाह हो गया है। तुम विदेश जा रहे हो। वहाँ तुम्हें पत्नी की स्मृति आती है। तुम्हारे चित्त की चंचलता के सूत्र बढ़ रहे हैं। इसका क्या कारण है? हमारे संबंधों का, लगाव का विस्तार।

ध्यान में उतरने के लिए रागात्मक संबंधों से उपरत हों। 'परस्परपग्रहो जीवानाम्' सूत्र का अर्थ है एक दूसरे के प्रति सौहार्दता के भाव रखो, न कि राग और आसक्ति। दूसरे को ऊँचा उठाओ, प्रेम का विस्तार करो। राग का भाव हमारे लिए आसक्ति का केन्द्र बन सकता है, पर प्रेम कभी आसक्ति का केन्द्र नहीं बनता।

राग और प्रेम के अन्तर को समझना आवश्यक है। राग तालाब जैसा है और प्रेम नदी का प्रवाह है। आगे बढ़ती हुई नदी विराट स्वरूप प्राप्त करती है और नदी का अंतिम लक्ष्य तो सागर है। प्रेम का अर्थ विस्तार है। नदी ने स्वयं को पूरे विश्व के लिए फैला दिया है, इसलिए वह कभी गंदी नहीं होती। जो गंदा होता है उसे हम डबरा कहते हैं। रुका हुआ पानी तालाब बन जाता है। जहाँ हमारे रागमूलक संबंध बनते हैं वहाँ डबरा बन जाता है। हम गड्ढा हो जाते हैं। सूखते हुए गड्ढे में गंदगी और अधिक बढ़ जाती है। आयु के विकास के साथ संबंधों का फैलाव होता जाता है। परिणामस्वरूप आसक्ति गहन होती जाती है।

बेहतर होगा, अपने जीवन में प्रेम, वात्सल्य, स्नेह को स्थान दें। अभी तो हमारे चित्त में राग का स्थान है। हमारा चित्त तृष्णा, आसक्ति और मूर्च्छा में घिरा हुआ है। परिणामतः मृत्यु शय्या पर होने के बावजूद चित्त में सांसारिक चंचलता के सूत्र चलते रहते हैं। जो यह कहते हैं कि जीवन भर पाप करने के बाद मृत्यु के समय स्वयं को सुधार ले, तो बेडा पार लग जाएगा, वे चूक रहे हैं। भला, तब यह कैसे संभव हो जाएगा। मृत्यु तो जीवन की परीक्षा है। परीक्षा में तभी उत्तीर्ण हो सकते हैं जब जीवन में कुछ पाया हो, उपलब्ध किया हो।

ध्यान में उतरने के लिए सर्वप्रथम अपने राग और द्वेषमूलक संबंधों से उपरत हों। अन्तर्मन में प्रेम का सागर लहरा लेने दो। राग का दायरा बहुत सीमित है और प्रेम का विस्तृत। राग परिवार से हो सकता है, पर प्रेम तो समग्र मनुष्य जाति के लिए है। अगर मेरे मन में प्रेम की धारा बह रही है, तो वह एक-दो के लिए नहीं, सभी के लिए होगी। मैं सभी को प्रेम बाँटता रहूँगा। लेकिन अगर राग जुड़ा है तो वह सबके प्रति नहीं होगा।

ध्यान के लिए भी पहली शर्त यह है कि गहराइयों में डुबकी लगाने के लिए राग और आसक्ति के दायरे से ऊपर उठना होगा।

हमें तो आत्मा की तलाश करनी है, जो न गुफाओं में मिलेगी और न कहीं की यात्रा में, न ही घर या दुकान में उसे खोज पाओगे। वह तो वहीं है जहाँ तुम स्वयं हो। रामचन्द्र ने कहा, 'आत्मा नी शंका करे आत्मा पोते आप।' स्वयं आत्मा ही आत्मा की तलाश की रही है, वही स्वयं पर प्रश्न-चिन्ह भी उठा रही है। जो पूछ रही है वही आत्मा है, जिसकी तलाश कर रहे हो वही आत्मा है।

आत्मा तो पूरे अस्तित्व में है, लेकिन अपनी आत्मा को अपने भीतर ही जानना होगा। निज के अस्तित्व से बाहर निज का अस्तित्व नहीं है। हम सदियों से यह मूढ़ता पालते आए हैं कि अपनी आत्मा बाह्य-जगत् में तलाश रहे हैं। हमारी स्थिति सागर में रहने वाली उस मछली की तरह है, जो दूसरी मछली से पूछती है सागर कहाँ है? अब उसे कौन समझाए। सागर में जीवन-यापन करने वाली मछली अगर सागर तलाशे, तो इसे क्या कहेंगे? सूर्य से आने वाली रश्मियाँ एक-दूसरे से पूछें कि प्रकाश क्या होता है, तो क्या उत्तर दिया जाए। ठीक इसी तरह व्यक्ति एक-दूसरे से पूछ रहा है कि आत्मा और परमात्मा क्या होता है। आत्मा ही आत्मा से अनभिज्ञ बन बैठी है।

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि उसमें मनुष्य ने स्वयं में परमतत्त्व की खोज की। शेष संस्कृतियों में परमात्मा का अस्तित्व बाहर की ओर खोजा है। भारत के महापुरुषों ने उस तत्त्व की तलाश स्वयं में की। महावीर ने महावीरत्व स्वयं से पाया। उनके गुरु वे स्वयं थे। वे जहाँ ठहरे, वही मंदिर और धर्मस्थानक हो गया। उन्होंने कोई मुख-वस्त्रिका, मोर पिच्छी या पीताम्बर धारण नहीं किया और न ही कोई गेरुआ या रंगीन वस्त्र पहने।

महावीर ने जाना कि वह तत्त्व महल में नहीं है, न वह कपड़ों में है, न हीरे-जवाहरात में है, न ही दान-दक्षिणा में है। वह तत्त्व स्वयं में है।

ठीक है, भारत ने आइंस्टीन जैसे वैज्ञानिक, सिकंदर जैसे विश्व-विजेता पैदा नहीं किये पर बुद्ध और महावीर जैसी मनीषा विश्व को दी है। कबीर, नानक, मीरा

और सहजो बाई जैसी भक्ति-गंगा का अमृत प्रवाहित किया है। जिन्होंने कोई वैज्ञानिक आविष्कार तो नहीं किए पर स्वयं के आविष्कार से जगत् को प्रकाश से भर दिया। वास्तव में जिसने अन्तर-स्वरूप की तलाश कर ली, उसने सम्पूर्ण अस्तित्व को तलाश लिया।

ध्यान स्वयं की तलाश का साधन है। जब मृत्यु निकट आएगी और स्वयं से ही पूछोगे कि जीवन में क्या खोया, क्या पाया, तो पता चलेगा कुछ भी हाथ में नहीं है। जीवन व्यर्थ ही चला गया। भौतिक सम्पदा यहीं रह गयी। देह भी यहीं रह गई। सारे जड़ पदार्थ यहीं रह गए और परेशानी इसी बात की है कि पूरा जीवन इन्हीं जड़-पुद्गल और अचेतन तत्त्वों से जुड़ा रहा, उलझा रहा।

सरल शब्दों में ध्यान का अर्थ है साक्षी का प्रादुर्भाव होना। यहाँ शिविर में जो ध्यान कर रहे हो वह तो ध्यान की प्रक्रिया है। यहाँ से जाने के बाद घर पर कसौटी होगी। आप घर पहुँचे, वहाँ आपके बच्चे से काँच का गिलास फूट गया। क्षण भर के लिए आपको आवेश आया। आप तुरंत सोचें अगर मैं यहाँ न होता तो...! व्यक्ति हर कृत्य में साक्षी और दृष्टा-भाव में लौट आए तो तन-मन प्रतिक्रियान्वित नहीं होगा।

मैं चाहता हूँ कि आप तनाव और चिंता में नहीं, आनन्द और प्रसन्नता से जीयें। मनुष्य का जीवन गीत और नृत्य से भरा हो। वह मात्र किसी परलोक के स्वर्ग की तलाश में जीवन न जीये, अपितु वर्तमान को भी स्वर्ग बनाने का प्रयास करे। मुझे पूरा भरोसा है कि इस धरती पर अगर घट-घट में ध्यान की धारा प्रवेश कर ले, तो धरती स्वयं स्वर्ग बन जायेगी।

जगत् में देखो फूल खिल रहे हैं, तारे टिमटिमा रहे हैं, पक्षियों की चहचहाहट में प्रसन्नता के सुर हैं। लेकिन मनुष्य विकास की लाख दुहाइयाँ देने के बावजूद उदास है, बोझिल है, चिंतित है। और इस बोझिलता ने हमारे भीतर में खिल सकने वाले फूल को दबा दिया है, भीतर की मुस्कराहट का गला घोट दिया है। ध्यान हमारे भीतर के फूल को खिलाने की प्रक्रिया है। जिस दिन इस धरती पर भीतर के आनन्द को उपलब्ध लोग धर्म के मार्ग पर बढ़ेंगे, उस दिन वह मार्ग फूलों से भर जायेगा। अब तक हम खोज करते रहे, अशांति को कम कैसे करें, दुःख को कम कैसे करें। यह नकारात्मक दृष्टि हमारे लिए हानिकारक बन सकती है। हम अपनी दृष्टि को जरा संशोधित करें। हमारा प्रयास हो कि जिंदगी में शांति कैसे बढ़े, आनन्द कैसे बढ़े, अहोभाव के फूल कैसे खिलें। वैसे तो सामान्य दृष्टि से दुःख कैसे कम हो या शांति कैसे बढ़े, दोनों एक जैसी बातें लगती हैं लेकिन इन दोनों में आधारभूत फ़र्क है।

कमरे में अँधेरा है। हमारे मन में दो तरह के विचार पैदा हो सकते हैं। एक,

अंधकार को कैसे कम किया जाये और दूसरा, प्रकाश को कैसे फैलाया जाये। जिस क्षेत्र का विचार होगा, चिन्तन उसी क्षेत्र में चलेगा। जो अंधकार को मिटाने में लगा है, वह हर समय अंधकार के बारे में सोचता रहेगा और जो प्रकाश को उपलब्ध करने में लगा है, वह प्रकाश का चिन्तन करेगा। अंधकार से न तो हम लड़ पाएँगे और न ही उसे हरा पाएँगे। कोई भी तलवार इसे काट नहीं पायेगी। क्योंकि अंधकार की कोई सत्ता नहीं होती, सत्ता हमेशा प्रकाश की होती है। जीवन और धर्म का नकारात्मक नहीं, सकारात्मक उपयोग करें। अशांति से बचने की फिक्र छोड़ो। विधायकता को अपनाओ। आनन्द को उपलब्ध करो। अगर चाहते हो कि तुम पर आनन्द की वर्षा हो, तो प्रतिपल आनन्द को बाँटना सीखो। अंग्रेजी में एक शब्द है 'चियरफुलनेस' यानी खुशियों को बाँटते हुए जीना। ध्यान भीतर में आनन्द को फैलाने की ही प्रक्रिया है। अगर जीवन आनन्द से जी रहे हो, तो यह हमारे जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। जो वर्तमान में प्रमुदित नहीं है, उसका भविष्य प्रमुदित कैसे होगा। जिन लोगों के भीतर ध्यान का रस जगा है, आनन्द, उत्सव और धन्यता को उपलब्ध करने के भाव जगे हैं, वे अद्भुत सुगन्ध को भीतर में आमन्त्रित कर रहे हैं।

ध्यान हमें उदासी नहीं देगा। बाहर की दुनिया को भले ही लगे कि जैसे-जैसे आप ध्यान के मार्ग में आगे बढ़ते जा रहे हो, वृत्तियों से ऊपर उठते जा रहे हो, जैसे-जैसे उदासीन होते जा रहे हो। लेकिन यह बाहर की औदासीन्य-वृत्ति हमें भीतर से अत्यन्त प्रफुल्लता देगी। ये खुशी के झूठे मुखौटे, जो हमने लगा रखे हैं, इनमें बाहर से, दुनिया की नजरों में तुम प्रसन्न-प्रफुल्लित दिखाई दोगे, पर अन्तर का सत्य कुछ और ही होगा। भीतर में कहीं कोई रस न होगा, कोई उत्सव नहीं होगा। जिस दिन भीतर में आनन्द और अहोभाव प्रकट होगा, उस दिन हमारे उठने-बैठने में भी फूल झरेंगे। इस भीतर के अहोभाव में ही अध्यात्म होगा, मुक्ति होगी, यह अहोभाव ही मोक्षदायी होगा। भीतर की उदासी के साथ अगर खिला हुआ फूल भी हम परमात्मा के द्वार तक ले जायेंगे, तो वह फूल भी उदास हो जायेगा। परमात्मा के द्वार पर मूल्यवत्ता फूलों की नहीं, उन प्राणों की है, जो फूल को लेकर आते हैं।

सुबह हुई और आप उठ आये हैं। कभी आपने सोचा, सुबह उठते ही आपने क्या किया? क्या एक प्रमोदभाव और अहोभाव की दृष्टि हमें उपलब्ध हो पायी? क्या सुबह उठते ही परमात्मा को धन्यवाद दिया कि उसने एक सुबह और दी, अँधेरे से प्रकाश और निद्रा से जागरण की? क्या कभी इसके लिए कृतज्ञता ज्ञापित की? नहीं, जीवन के प्रति हमारे हृदय में न कोई धन्यता है और न कोई कृतज्ञता। हम जीवन के लिए कृतज्ञता ज्ञापित नहीं कर पाते। सृष्टि की महानतम उपलब्धि के लिये भी नहीं।

पता है, कैसी सामान्य चीजों से हमारी कृतज्ञता जुड़ी है ! किसी ने तुम्हें एक रुपये का रूमाल लाकर दे दिया। तुमने कहा- ' धन्यवाद '! एक गिलास पानी पिला दिया, तुमने धन्यवाद दे दिया। पर, इस बहुमूल्य जीवन के लिए...?

इस दुनिया में आश्चर्य की बात तो देखो कि जो मिलता है, उससे हमें कोई खुशी नहीं है, पर हाँ जो नहीं मिला, उसके लिये जीवन में शिकायत और शिकवे हैं। हमारा हाथ टूट गया, हमने परमात्मा के प्रति शिकायत करनी शुरू कर दी, शक करना शुरू कर दिया कि वह है या नहीं। लेकिन हमारे पास दोनों हाथ थे, क्या तब उस उपलब्धि के लिए परमात्मा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की? सचमुच बड़ा विचित्र है मनुष्य का मन, एक काँटा गड़ जाये तो शिकायत, पर वर्षों चले, काँटा नहीं गड़ा तो उसके लिए धन्यवाद नहीं दिया। और यह जो जीवन को देखने का हमने ढंग बना लिया है, वह हमारे उदास और दुःखी होने की तैयारी है। आज का मनुष्य नब्बे फीसदी तो इसलिए उदास है कि जीवन को देखने और जीने का लहजा ही गलत बना लिया है। जो मिला उसके लिये कहीं कोई कृतज्ञता नहीं।

मैंने सुना है : एक व्यक्ति किसी शानदार घोड़े को लेकर यात्रा पर निकला। घोड़ा इतना खूबसूरत कि जो देखे वही ईर्ष्या से भर जाये। घोड़े की अद्भुत चमक, पैरों की टाप ऐसी कि हर किसी को रोमांचित कर दे। जिस गाँव से गुजरता, लोग कहते, 'घोड़ा हमें दे दो, जो चाहे सो दाम ले लो।'

वह कहता, 'नहीं, इस घोड़े से मुझे प्रेम है और मैं अपने प्रेम को बेच नहीं सकता।' लेकिन लोगों की आँखें ईर्ष्या से भर गयीं उस घोड़े के प्रति, और सब मौके की तलाश में लग गये। उस रात उसने घोड़े को गाँव के बाहर वृक्ष से बाँधा और वहीं सो गया। सुबह उठा तो देखा, घोड़ा नदारद था। शायद कोई चोरी करके ले गया होगा। भगवान जाने क्या हुआ? सारे गाँव में खबर फैल गयी। वहाँ भीड़ इकट्ठी हो गई। और लोग उस घुड़सवार के प्रति खेद ज्ञापन करने लगे। लेकिन आश्चर्य की बात, अचानक उसे कुछ याद आया और वह व्यक्ति गाँव की तरफ भागा, गाँव से मिठाइयाँ खरीद कर लाया और जो लोग वहाँ इकट्ठे थे, उन्हें बाँटने लगा। कहने लगा, 'भगवान को धन्यवाद दो।'

लोग कहने लगे, तुम्हारा दिमाग तो ठिकाने है, घोड़ा चोरी चला गया है और तुम मिठाइयाँ बाँट रहे हो, भगवान को धन्यवाद दे रहे हो। किस बात का धन्यवाद !

वह मुस्कराया, बोला, 'यह उसी की तो कृपा है कि मैं घोड़े पर नहीं था, नीचे सो रहा था। अगर मैं घोड़े पर होता तो, मेरी भी चोरी हो जाती। यह प्रसाद उसी की अनुकंपा के लिए है।'

क्या जीवन को देखने का ऐसा ढंग नहीं हो सकता? ऐसा आदमी कभी उदास, बोझिल या भारग्रस्त नहीं हो पायेगा। नकारात्मक आदमी सोचेगा, घोड़ा चोरी चला गया, बहुत बुरा हुआ। सकारात्मक सोचेगा। मैं बच गया, क्या यही कम है। हमारा जीवन हमें प्रफुल्लता भी दे सकता है और उदासी भी। आनन्द भी दे सकता है और दुःख भी। हमारे प्राणों को अंधकार से भी भर सकता है और हमें आलोक से सराबोर भी कर सकता है। यह तो हम पर निर्भर है कि हम जीवन को कहाँ से देखते हैं, कैसे देखते हैं। हम अपने जीवन का मूल्यांकन गंदे डबरों से करते हैं या चाँद-सितारों से करते हैं। सब कुछ हम पर निर्भर है।

आज निराशा हमें चारों ओर से घेरती जा रही है। हकीकत में जीवन में आनन्द तभी फलित हो सकता है, जब व्यक्ति जीवन को आशावादी दृष्टि से देखे। निराशा से अगर फूलों को देखेंगे तो वे काँटे लगेंगे और आशा से, भीतर की प्रफुल्लता से, कहीं काँटों पर नजर डाली तो काँटों में भी फूल खिलते नजर आएँगे। वे लोग सचमुच जीवन में, छोटे-छोटे कंकरों में भी खुशी और प्रसन्नता के हीरे-मोती खोज लेते हैं, छोटे-छोटे कृत्य में भी सुबह से साँझ अद्भुत प्रफुल्लता पा लेते हैं। सचमुच, उन्हीं पर तो उतरती है परमात्मा के प्रसाद की किरणें।

मेरा प्रयास रहेगा कि हम सुख और दुःख दोनों से अनासक्त हों। सुख और दुःख ये दोनों हम पर बाहर के प्रभाव हैं, ये कभी भीतर से नहीं उपजते, आनन्द हमेशा अन्तर् से उपजता है। जो व्यक्ति भीतर के आनन्द को उपलब्ध हो चुका है, वह भले ही राजमहल में सोये, चाहे झोपड़ी में, दोनों जगह एक-सा आनन्द होगा। चाहे फूलों की शय्या मिली या कंकरीली जमीन, एक में कृतज्ञता और एक में शिकायत, ऐसा नहीं होगा। वहाँ दोनों के लिए कृतज्ञता होगी। वही व्यक्ति तो ध्यानी है, जिसकी अन्तश्चेतना को सुख-दुःख से ऊपर आनन्द की उपलब्धि हो गयी है। और ऐसे व्यक्ति के लिए जीवन भी सुखमय होगा और मृत्यु भी।

कहते हैं रोम में एक सम्राट ने किसी बात से नाराज होकर अपने ही वजीर को फाँसी की सजा दे दी। उस दिन वजीर का जन्म-दिवस था। घर पर भोज का आयोजन था। पूरा परिवार, सभी मित्र इकट्ठे थे। कई संगीतज्ञ, नर्तक और नर्तकियाँ भी पहुँची थीं।

राजा की आज्ञा। दोपहर के दो बजे थे। सम्राट के सैनिकों ने नंगी तलवारों से वजीर के मकान को घेर लिया। भीतर आकर दूत ने खबर दी कि सम्राट का आदेश है, आज शाम सात बजे आपका कत्ल हो जायेगा।

जहाँ नृत्य चल रहे थे, वहाँ छाती पीटी जाने लगी। नाचता हुआ घर अचानक

श्मशान बन गया। किसी ने स्वप्न में भी सम्राट के ऐसे आदेश की कल्पना नहीं की थी। यह तो जन्मदिन ही मृत्यु-दिवस बन गया।

लेकिन वह वजीर जो अब तक नृत्य देख ही रहा था, जिसकी मौत आने को थी। वह उठ खड़ा हुआ। कहा, 'वाद्ययंत्र बंद नहीं किये जायें। अब तक तो मैं दर्शक था परन्तु अब मैं स्वयं नृत्य करूँगा। आखिरी दिन है, और साँझ होने में अभी बहुत देर है। और यह तो मेरे जीवन की आखिरी साँझ है, इसे मैं उदासी में नहीं गँवा सकता हूँ।'

लेकिन वाद्यकार हाथ उठाये तो भी वीणा न बजे, सबके हाथ शिथिल हो गये। वजीर ने प्रश्नसूचक निगाहों से उन्हें देखा। वे कहने लगे, आप कैसी बात कर रहे हैं। मौत सामने खड़ी है और हम खुशी मनायें?

वजीर, जो जिंदगी का राज ढूँढ़ चुका था, मुस्कराया, कहने लगा, 'जो मौत के सामने खड़े होकर खुशी मना लेता है, उसके लिये मौत समाप्त हो जाती है। जो मृत्यु को सामने देखकर खुश नहीं हो सकता, वह जिंदगी में कभी खुश नहीं हो सकता। मौत तो प्रतिदिन मनुष्य के सामने खड़ी है, यह तो मेरा सौभाग्य है कि मुझे पता लग गया कि मैं आज साँझ मरने वाला हूँ, अन्यथा शायद मैं किसी गफलत में रह जाता पर अब मैं मृत्यु को जीवन से भी ज्यादा आनन्द से स्वीकार करने की क्षमता रखता हूँ।'

वजीर नाचने लगा। वाद्य और गीत सभी कमजोर चल रहे थे। कहीं सुर-ताल नहीं बैठ रहा था। सब उदास थे। लेकिन फिर भी वजीर नाच रहा था, वह जीवन के अन्तिम आनन्द को खोना नहीं चाहता था।

सम्राट को भी खबर मिली। उसे तो कल्पना भी नहीं थी कि वजीर के साथ ऐसा होगा। जानबूझ कर उसने जन्मदिन को यह खबर भेजी थी, ताकि वजीर और उसके परिवार को गहरा आघात लग सके। लेकिन सैनिकों ने आकर कहा- सम्राट! वह तो मृत्यु की सूचना सुनकर नाच रहा है। कहता है कि साँझ मौत आने वाली है इसलिए एक क्षण भी नहीं खोऊँगा। अपनी जिंदगी को जितने अहोभाव से भर लूँ उतना ही कम है। आश्चर्यचकित हुआ सम्राट स्वयं वजीर के घर पहुँचा। देखने के लिये कि आखिर क्या ऐसा भी होता है? वह तो दंग रह गया। सचमुच में वजीर नाच रहा था, वाद्य बज रहे थे, गीत चल रहे थे। उसने वजीर से कहा, 'क्या तुम जानते हो, आज की शाम तुम्हारी अंतिम साँझ है। और तुम गीत गा रहे हो, नाच रहे हो।'

वजीर ने सम्राट को धन्यवाद देते हुये कहा, 'इतना आनन्दमय जीवन मैं कभी नहीं पा सका, जितना आज पा रहा हूँ। आपको धन्यवाद कि आपने आज के लिए

यह खबर भेजी। आज वे लोग मेरे निकट हैं, जिन्हें मैं प्रेम करता हूँ। सम्राट! मैंने जन्मदिन तो बहुत मनाए हैं लेकिन आज-सा आनन्द कभी नहीं पाया। मेरे जीवन में इतना आनन्द आ सकता है मैंने कल्पना भी नहीं की थी। सचमुच आज मैं अपूर्व आनन्द से भरा हुआ हूँ।’

सम्राट अवाक् खड़ा रह गया। उसने कहा- ‘तुम अद्भुत इन्सान हो, तुम्हारी फाँसी भी व्यर्थ है। जो जीने की कला सीख गया, मौत उसे कभी मार नहीं सकती।’

जिसे नाचना है, जीवन का आनन्द उठाना है, वह तो जेल की कोठरी में भी नाच सकता है। जिसने बाँसुरी बजानी सीख ली है, वह घुप्प अँधेरे में भी बजा लेगा। पर जिसने भीतर से आनन्द का स्रोत उपलब्ध नहीं किया, वह आजीवन राजमहल में रहकर भी कभी प्रसन्न नहीं हो पायेगा और जिसने आनन्द का स्रोत कहाँ से उमड़ता है, इस रहस्य को खोज लिया है, वह मृत्यु को सामने देखकर दीप की लौ की तरह ऊर्ध्वमुखी हो जाएगा। वह वजीर मौत को सामने देखने के बाद भी इतना प्रसन्न बना रहा, शायद हम अपने जीवन में कभी इतने प्रसन्न नहीं हुए होंगे। उदासी और प्रसन्नता का संबंध बाहर से नहीं, भीतर से है।

यह जीवन हमें परमात्मा की ओर से मिली हुई सौगात है। यह भूल होगी यदि किसी दुःख की वेला में अपने जीवन को पापों का दण्ड मान लिया जाये। जीवन चाहे सुख में हो या दुःख, मैं यह जीवन हमारे पुण्यों का फल है।

जीवन को निराशा से नहीं, आशा से जीओ। इस सृष्टि से ऐसा कुछ भी नहीं है, ऐसी एक भी स्थिति नहीं है जहाँ कुछ न कुछ आनन्द संभव न हो। हर अँधेरी रात में चमकते हुए तारे हैं। हर काले बादल में चमकती हुई बिजली है। काँटों के झुण्ड में भी गुलाब खिल रहे हैं। हम अँधेरी रात में भी अंधकार को न देखें, चमकते हुए तारों को देखें। शायद वे कहीं कोई आशा की किरण बन जायें।

अपने जीवन के गणित को बदलो। अब तक काँटों को गिनते आये हो, अब फूलों को गिनो। अगर ज़िंदगी भर काँटों को गिनते रहे तो फूल भी काँटे बन जायेंगे।

एक बात मैं और कहना चाहूँगा कि अपने आनन्द को अभिव्यक्त करो, उसे फैलाओ। ऐसा करने से हमारे भीतर नये-नये रूपों में ऊर्जा आनी शुरू हो जायेगी। जैसे कुएँ से पानी खींचते हो, तो अन्तर के झरने पुनः उसे नया पानी दे देते हैं। आखिर हम सभी भी तो उस परम सागर से जुड़े हैं। सब कुछ संभव है, हमारे जीवन में संभव है। बशर्ते यह राज हमारी समझ में आ जाये कि बाँटने से बढ़ता है। फिर तो रात गई और प्यारी-सी सुबह अपने आप हो गई।

अन्यथा ध्यान रखना, ये बाहर के मनोरंजन के साधन हमारे दुःख को कुछ क्षण के लिये हल्का कर देंगे, समाप्त नहीं कर पायेंगे। अफीम का नशा आखिर कब तक टिकेगा। जिंदगी में बहुत लोरियाँ गा चुके हो, सान्त्वना दे चुके हो। भले ही कुछ क्षण के लिए तुम्हें राहत महसूस हो जाये, लेकिन समस्या वैसी की वैसी खड़ी रहेगी, ऐसी समस्या नहीं मिटेगी। समस्या मिटेगी स्वयं में डूबने से। ध्यान और समाधि से। अगर दुःखों से मुक्ति पाना चाहते हो, तो मन से छूटो, चित्त से छूटो, तो दुःख अपने आप छूट जायेगा। सारी समस्याएँ स्वतः समाप्त हो जायेंगी।

मेरी नजर में यही जीवन का संन्यास है, मुनित्व है। जो अ-मन हो गया, वही तो मुनि है। साक्षी बनो अपने मन के। पराजय वहीं है, जहाँ विजय है। इसी मन में सुख है और इसी मन में दुःख है। हँसी और आँसू दोनों इसी मन में हैं। अगर इस शिविर में हमने किंचित् भी अ-मन दशा उपलब्ध कर ली, तो आँसू और मुस्कराहट दोनों के साक्षी बन सकोगे। फिर धर्म, केवल ऊपर की लीपा-पोती नहीं, चेतना से जुड़ जायेगा। और अगर इस साक्षी-भाव में थिर हो गये, रम गये, तो जीवन रस रूप बन जायेगा। अभूतपूर्व, अनूठा, अतिशयपूर्ण।

जो अन्तर का स्पर्श करना चाहते हैं, चेतना की पहचान करना चाहते हैं उनके लिए आवश्यक है कि वे साक्षी-भाव, दृष्टा-भाव में जीने का प्रयास करें। फिर न अतीत की स्मृतियाँ रह पायेंगी, न भविष्य की कल्पनाएँ। बस वर्तमान रहेगा। वह भी देहातीत, मनोमुक्त। ऐसी दशा में भले ही कोई सूली पर लटकाए, कानों में कीलें ठोके, जहर का प्याला पिलाये फिर भी चेतना उससे प्रभावित नहीं होगी, वह तो अस्पर्शित ही रहेगी।

महावीर के कानों में कीलें ठोकी गई, क्या उन्हें सन्नास नहीं हुआ? वे साक्षी-भाव में थे। सुकरात को जहर का प्याला पिलाया गया, उन्होंने साक्षी-भाव में मृत्यु का वरण किया। जिन्होंने सुकरात की मृत्यु को देखा है उन्होंने लिखा है कि इस संसार में जिसने होशपूर्वक मृत्यु को पाया है वह सुकरात है।

कहते हैं सुकरात के लिए जहर का प्याला तैयार किया जा रहा था। एक सैनिक जहर घोट रहा था। आदेश था सूर्यास्त के पूर्व ही उसे जहर पिला दिया जाए। दोपहर ढल रही थी। साँझ होने के करीब थी। सुकरात ने सैनिक से कहा, इतना विलम्ब क्यों कर रहे हो। जरा शीघ्रता से घोटो। सैनिक दंग रह गया कि सुकरात क्या कह रहा है। अरे, मैं तो जान-बूझकर ही धीरे काम कर रहा हूँ ताकि सुकरात कुछ और जिंदगी जी ले। सुकरात जैसे प्रकाश, सुकरात जैसे सत्य, इसके जैसी आभा तो धरती पर विरल ही अवतरित होती है। और मैं खुद ही विलम्ब कर रहा हूँ ताकि इस सत्य का प्रकाश

अस्तित्व में थोड़ी देर और ठहर जाए। और यह शीघ्रता करने को कहते हैं। उसने कहा, प्रभु! आप ऐसा क्यों कहते हैं। सुकरात ने कहा, इस शरीर का आनन्द तो बहुत लिया और अब मैं मृत्यु का भी आनन्द लेना चाहता हूँ। अपनी मृत्यु को निर्वाण की आभा देना चाहता हूँ।

साँझ ढलने को आई। सुकरात के शिष्य उसके आस-पास बैठे थे। ज़हर का प्याला लाया गया। सब सोच रहे थे सुकरात ज़हर का प्याला अपने हाथों कैसे पी पाएँगे। लेकिन सुकरात ने बड़ी सहजता से, जैसे लोग चाय-कॉफी पीते हैं, वह प्याला ली लिया यह कहते हुए कि लम्बे अर्से तक मैंने इस जीवन को जीकर देखा है, अब मैं अपनी आँखों से इस जीवन के समापन को देखना चाहता हूँ। सुकरात ने पल-पल अपनी मृत्यु को घटित होते हुए देखा है। ज़हर पीकर सुकरात लेट गये। उनके शिष्यों ने पूछा, प्रभु, बहुत पीड़ा हो रही होगी। सुकरात मुस्कराए और कहने लगे, पीड़ा तो तब थी अब कहाँ। मैं देह से भी ऊपर हूँ। देखो, मेरे पाँव के अंगूठे शून्य होते चले जा रहे हैं। मैं अपने पाँव के अंगूठों से अलग हो गया हूँ। कुछ पल बीते वे कहने लगे, अब मैं पगतली से भी अलग हो गया हूँ। कुछ क्षणों के बाद पुनः आवाज आई, शिष्यो, देखो, अब तो घुटनों तक शरीर से अलग हो गया हूँ। शिष्यों की आँखों से आँसू झर रहे थे। सुकरात फिर कहने लगे, यह मेरे जीवन की धन्य घड़ी है अब मैं जंघाओं से भी अलग हो गया हूँ। थोड़ी देर बाद वे कहते हैं, अब मैं नाभि से मुक्त हो गया हूँ। धीरे-धीरे सुकरात की चेतना ऊपर चढ़ने लगी। वे हृदय तक आ गए और कहने लगे, शिष्यो, यह मेरे जीवन के जागरण का अवसर है, अब मैं हृदय मन, विचार और शरीर से अलग हो गया हूँ। और अंतिम ध्वनि आई, मैं मुक्त चेतना हो गया।

एक व्यक्ति मृत्यु के समय अपनी चेतना, अपनी ऊर्जा-शक्ति, अपनी रूह, अपनी आत्मा को शरीर से कैसे अलग करता है, यह सुकरात के जीवन की जीवन्त घटना है। लेकिन अब विपरीत बातें हैं। मृत्यु के समय अपने शरीर से अलग हो पाना तो बहुत दूर, व्यक्ति अपने परिवार, समाज, व्यवसाय, दुनियादारी से ही मुक्त नहीं हो पाता है। परिणामतः जो हम बाहर तलाशते रहे, वह नहीं मिल सका और हमारी चैतन्य-धारा निरर्थक कार्यों में व्यय होती रही। हम खाली के खाली रह गए। कुछ भी उपलब्ध होकर नहीं गए।

हम अपने बंधनों को खोलने के लिए आए हैं। आज संध्या में यही चिन्तन करना कि इस देह को पाकर हमने कितने बंधन बाँधे हैं और कितनों से मुक्त हुए हैं। आप अपनी चैतन्य-शक्ति को, अमृत शक्ति को, ऊर्जा को पहचान लें। और जहाँ बंधन हैं वहाँ से मुक्त होने का प्रयास करें। भीतर संकल्प पैदा करें कि जहाँ भी राग-द्वेष

मूलक संबंध हैं वहाँ से उपरत होऊँगा ।

व्यक्ति संसार में रहते हुए भी सम्यक्त्व-प्राप्त जीव की तरह रहे । वह संसार से स्वयं को ऐसे ही उपरत रखे जैसे धाय माता बच्चे का पालन-पोषण करती है लेकिन जानती है कि कुछ दिनों बाद इसे छोड़ देना होगा । पालन-पोषण को अपना धर्म-कर्त्तव्य समझती है । जो व्यक्ति संसार में धाय की तरह अपना जीवन जी लेता है, कर्त्तव्य समझते हुए कि मैं संसार में, परिवार में रहता हूँ, उनके साथ जीता हूँ इसलिए उनका पालन-पोषण करना मेरा फर्ज है । अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करते हुए अगर घर में हो, संसार में हो तो कीचड़ में भी कमल को खिला लगे । संसार में संन्यास का कमल खिल जाए, तो यह अनासक्ति की पहल होगी ।

मुक्ति के लिए अनासक्ति ही चाहिये । बाहर की आसक्ति हटे, तो ही भीतर की प्रविष्टि होगी । बाहर से भीतर - यही ध्यान है और भीतर का भीतर ही बने रहना समाधि है । ध्यान-शिविर भीतर की यात्रा के लिए है, अन्तरजगत् के आविष्कार के लिए है । मुक्ति की ओर कदम बढ़ाइये, मेरी शुभकामनाएँ आपके साथ हैं ।





आत्मा, सत्य और मुक्ति- अध्यात्म के मार्ग में मनुष्य के लिए शोध के मुख्य केंद्र-बिंदु हैं। जब से धर्म की शुरुआत हुई है, मनुष्य का उनके साथ नजदीकी संबंध स्थापित हुआ है या ग्रंथों का सृजन किया गया है, तब से अध्यात्म की सारी व्याख्याएँ इन्हीं बिंदुओं के अर्स-पर्स रही हैं। अध्यात्म के जितने भी उपदेष्टा हुए हैं, चाहे वे राम-कृष्ण हों, महावीर-बुद्ध हों, ईसा-सुकरात हों- लक्ष्य सबका एक रहा है। अध्यात्म का मार्ग मात्र मंदिर में जाकर घंटी बजा लेने का नाम नहीं है या दान-पुण्य, तपस्या कर लेना भर नहीं है। अध्यात्म का अमृत मार्ग तो ध्यान, कैवल्य, संबोधि को उपलब्ध करना है, अन्तर के आनन्द और मुक्ति को उपलब्ध करना है।

धर्म और अध्यात्म के लिए शास्त्रों का सृजन किया गया और मनुष्य ने स्वयं को धार्मिक बनाने के लिए इन्हीं ग्रंथों में प्ररूपित मर्यादाओं को जीवन का धर्म मान लिया, धर्म जिसका संबंध जीवन से होना चाहिए था, जीवन तो उससे दूर होता जा रहा है, बस हमारा धर्म दिखावा और क्रियाकांड में सिमट कर रह गया है। आदमी ने ग्रंथों की पूजा, प्रभावना, उनके लिए चढ़ावे या उनके लेखन-प्रकाशन तक धर्म को सीमित कर लिया। ज्यादा से ज्यादा उन ग्रंथों को सिर पर लेकर शोभायात्राएँ निकाल लेते हो। चाहे रामायण हो, गीता हो या कल्पसूत्र हो। ये सब मात्र सोने की स्याही से लिखने के लिए नहीं हैं या काँच की अलमारियों में सजाने के लिए नहीं हैं। इन शास्त्रों में निर्दिष्ट जीवन-मूल्यों का आचमन करने के लिए है।

पर्युषण पर्व आता है, जैन लोग कल्पसूत्र का श्रवण करते हैं। लाखों के चढ़ावे लिये जाते हैं, बोलियाँ बोली जाती हैं, शोभायात्राएँ निकाली जाती हैं, उसकी पूजा की जाती है और जन्मवाचन के समय तो देश भर में करोड़ों के चढ़ावे होते होंगे। यह सब हो, भले ही हो लेकिन इस बात का चिंतन अवश्य किया जाना चाहिए कि क्या ऐसे कर लेने मात्र से कल्पसूत्र हमारे जीवन का काया-कल्प कर पायेगा? ग्रंथ को सिर पर लेकर तो तुमने शोभायात्राएँ निकाल लीं, शहर भर में घूमकर आ गये पर इसके बावजूद यह प्रश्न तो खड़ा ही रहा कि सिर पर धारण करने वाले व्यक्ति ने उसे हृदय में भी धारण किया है या नहीं? हमने अब तक पचीसों-पचासों दफा कल्पसूत्र का श्रवण कर लिया है, पर मुझे नहीं लगता कि हमने उसे सुनने की दृष्टि से सुना हो, महज एक परंपरा को निभाने के लिए सुन भर लेते हैं। जीवन का कायाकल्प करने के लिए हमने कब सुना है इन पवित्र ग्रंथों को, इन पवित्र किताबों को। आप कल्पसूत्र में कई दफा सुन चुके कि महावीर के कानों में कीलें ठोकी गईं और वे समता में जीते रहे, शांत-समाधिस्थ बने रहे। उनके कानों में तो कीलें ठोकी गईं, फिर भी शांत और यहाँ कोई दो कड़वे शब्द सुना दे तो आप आग-बबूला हो जाएँगे।

धर्म की शुरुआत, अध्यात्म का आरम्भ जीवन से होना चाहिए। अगर अध्यात्म की शुरुआत जीवन से होती है, अपने अन्तर-अस्तित्व से होती है, हमारा जीवन आत्मोत्कर्ष के अमृत में भिग जाता है तो जीवन में आनन्द और धन्यता का अनुभव किया जा सकता है, कैवल्य-मुक्ति को जीया जा सकता है, चेतना का अंतिम स्पर्श किया जा सकता है। यह ध्यान-शिविर चेतना के अंतिम स्तर पर स्पर्श करने का आयोजन है। ध्यान हमें न केवल ग्रंथियों से मुक्त करेगा, अपितु किसी हद तक ग्रंथ-मोह से भी उपरत करके हमारी भगवत्ता को हमें उपलब्ध कराएगा।

जब नगर में समाचार-पत्रों के माध्यम से अथवा अन्य प्रचार-माध्यमों से लोगों को सूचना मिली कि यहाँ ध्यान-शिविर हो रहा है, तो लोगों ने शिविर का अर्थ निकाला कि यहाँ कोई ध्यान की प्रतियोगिता होगी, पारितोषिक दिये जाएँगे। धर्म में भी प्रतिस्पर्धाएँ जारी हो गई हैं। अब पहले किसी ने ध्यान के नाम पर कोई प्रतियोगिता कराई होगी कि एक घंटे के लिए ध्यान करो, आँखें खुलनी नहीं चाहिए, शरीर हिलना नहीं चाहिए तो तुम्हें पुरस्कार मिलेगा। अगर थोड़ा-सा भी शरीर हिल गया, एक क्षण के लिए भी पलकें ऊपर उठ गईं, तो पुरस्कार हाथ से निकल गया। निर्णायकों को इसकी कोई परवाह नहीं है कि इस एक घंटे में हमारा मन कितना उछल-कूद करता रहा, चित्त में कितने उद्वेग और संवेग जन्मे, बस उनकी शर्त तो यह है कि आँख न खुले, शरीर न हिले, मन भले ही उछल-कूद करे। अब भला इन प्रतिस्पर्धाओं का ध्यान से क्या ताल्लुक। मैं तो कहूँगा कि अगर ध्यान में शरीर हिल

जाये तो हिलने देना और अनायास आँख खुल जाये तो खुलने देना। ध्यान के नाम पर शरीर के साथ कोई ज्यादाती न करे। यहाँ जोर जबरदस्ती नहीं चलेगी। हाँ, इतना विवेक अवश्य रखना, शरीर हिल जाये तो हिल जाये, पर मन अडोल रहे। ध्यान शरीर को शांत या एकाग्र करने के लिए नहीं है, मन की शांति व अन्तर का आनन्द उपलब्ध करने के लिए है।

यह शिविर कोई प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धा नहीं है, वृत्तियों के विसर्जन का उपक्रम है। यहाँ वही कुछ अर्जित कर पायेगा, जो खोने के लिए तैयार है। अन्यथा मन का निर्मलीकरण न हुआ तो यह ध्यान-शिविर भी, इस शिविर में बरसने वाली अमृत की बूँदें - बस ऐसी हो जायेंगी जैसे किसी जहर सने पात्र में अमृत की बूँदें आकर जहर बन जाती हैं। शिविर में मेरा प्रयास अमृत को उपलब्ध कराना न होगा, वरन् अन्तर-धमनियों में फैल रहे जहर को बाहर निकालना होगा, जीवन में जितनी क्लृप्तता पनप रही है, उसकी सफाई करना होगा। अब कोयलों पर तुम बाहर से कितनी ही सफेदी कर लो, पर उसका अंतर-अस्तित्व तो काला ही रहेगा। इसलिए ध्यान-शिविर वह अभियान है, जिसमें अमृत की बूँदें तो गिरेंगी, तब गिरेंगी, पर हमारी कोशिश विष को बाहर निकालने की रहेगी। आपके अन्तर-पात्र को साफ-सुथरा करने की रहेगी।

अब भला कैसे हम अध्यात्म के अमृत का स्पर्श कर पाएँगे, जब होंठों से हम परमात्मा की प्रार्थनाएँ कर रहे हैं, गीत और भजन गुनगुना रहे हैं, लेकिन हृदय से प्रार्थना नहीं उमड़ रही है, तो हृदयेश्वर तक हमारी पुकार कैसे पहुँचेगी? मैं तो कहूँगा मंदिर में प्रवेश करते समय तुम जितनी शरीर व वस्त्रों की शुद्धि का ध्यान रखते हो, कितना अच्छा होता अगर मनोशुद्धि का भी इतना ही लक्ष्य करके जाते। मात्र कपड़ों की, शरीर की उज्वलता से क्या लाभ, अगर अंतर-अस्तित्व तुम्हारा उज्वल न हो पाये। यह शिविर हमारी अन्तर-उज्वलता को उपलब्ध कराने के लिए है।

मात्र होठों की प्रार्थनाएँ अध्यात्म के अमृत का रसास्वादन नहीं करा पाएँगी। आवश्यकता हृदयेश्वर से हृदय को जोड़ने की है, कल्याण केवल प्रार्थनाओं से नहीं होगा। जीवन का कल्याण केवल धूप खेने या चढ़ावे से नहीं हो पायेगा। जीवन का कायाकल्प होगा आत्मजागरण से, अन्तर की संबोधि को उपलब्ध करने से। इस संबोधि को उपलब्ध करने के लिए हमें न किसी के आशीर्वाद की ज़रूरत है, न किसी के आलंबन की, आवश्यकता है अन्तर्यात्रा की। अपने मन को ही मंदिर का रूप देने की। न शरण हो, न अनुसरण हो। अगर हम महावीर या बुद्ध की पूजा ही करना चाहते हैं तो बात और है। यदि जीवन में महावीरत्व व बुद्धत्व को भी उपलब्ध

करना है, तो उसके लिए तो अन्तर्यात्रा करनी ही पड़ेगी।

हमारा अपना अस्तित्व हमारे भीतर है और शेष जो कुछ है, सब बाहर के हैं। आदर्श पुरुष हमारी साधना के आलंबन हो सकते हैं, लेकिन हमारे अन्तर अस्तित्व में नहीं हो सकते। महावीर और बुद्ध यह कभी नहीं कहते कि तुम मुझे भगवान के रूप में विराजमान करो। वे तो यह कहते हैं कि तुम स्वयं यह अनुभव करो कि तुम भगवान हो, तुम्हारे भीतर भी भगवत्ता की सुवास है। भले ही आँख बंद करने पर तुम्हें घुप्प अँधेरा दिखाई दे, लेकिन इसी अँधेरे में से तुम ज्योति प्रकट कर सकते हो, प्रकाश की रेखा खींच सकते हो।

हमारी अपनी चेतना को छोड़कर भीतर में ऐसा कुछ है ही क्या जिसे हम भगवान कह सकें। तुम कहोगे देह, पर देह तो पशु की भी है। देह होने मात्र से तुम भगवान थोड़े ही हो सकते हो। तुम कहोगे मन, पर मन तो हमारा पशु के मन से भी बदतर बना हुआ है। कितना द्वेष, कितनी हिंसा, कितना व्यभिचार, वैर-वैमनस्य और कषाय के भाव पल रहे हैं हमारे चित्त में, हमारे मन में। शरीर की और भौतिक गिरावटों को तो कदाचित् समाज और परिवार के चलते तुम रोक सकते हो, पर मन की गिरावट! अगर तुम नोट करना शुरू कर दो इन गिरावटों को और पढ़ने की कोशिश करो तो तुम्हें विश्वास ही नहीं होगा कि मैं समाज में धार्मिक कहलाता हूँ, पर मेरा अन्तरमन कितना गिरा हुआ है। इस मन में कितनी बार कषाय के भाव पैदा हुए हैं, हत्या के, व्यभिचार के, चोरी-डाके के कितने-कितने विचार उभरे हैं, हमारे मन में। देह पशु है, पर मन, वह तो पशु से भी बदतर बना हुआ है। हमें एक बहिन कह रही थी कि मुझे अपने भीतर सिवाय पशु और अंधकार के कुछ नहीं दिखता। आखिर ध्यान के पहले चरण में जैसे ही प्रवेश करोगे तो तुम्हारे तल पर जो पशुता पल रही है, अंधकार पल रहा है, वही तो दिखाई देगा और आधे घंटे तक भी निरीक्षण कर लो अपने मन का, तो पता लगेगा कि हमारे मन में कितनी पशुता पल रही है, हमने अपने हाथों अपने मन को नरक बना रखा है। कभी 'ऑबजर्व' करके तो देखो, तो हमें पता लगेगा कि हम बाहर से दिखने में मनुष्य हैं और भीतर से पशु। बाहर से हँसते-खिलते दिख रहे हो, पर भीतर से उद्वेलित। हमारे अन्तरमन पर पहले तल पर पशुता है, दूसरे तल पर मनुष्यता है और देवता तो तीसरे तल पर है। आदमी प्रायः पहले तल में जीता है, इसलिए इस तल का निरीक्षण करने के बाद अगला कदम आगे बढ़ाओ।

हम सदा स्वयं को भुलाने का प्रयास करते आये हैं। कभी एकांत भी आया, जहाँ अपने में उतर सकते थे, लेकिन वहाँ भी खुद को भूलने का प्रयास करने लगे। हँसी-खेल में जीए, आमोद-प्रमोद में जीए, ताकि कभी भी आत्मनिरीक्षण करने का भाव

न जग पाया। आपको पता है कि आदमी को कुछ समय के लिए अकेला छोड़ दो, तो वह तिलमिला उठेगा और पागल हो जायेगा।

आप एक प्रयोग करके देखें। किसी आदमी को अकेले कमरे में बंद कर दें। शुरुआती दौर में आप उसके लिए भोजन का प्रबंध करेंगे, पर वह खाने के लिए तैयार न होगा। वह उठाकर फेंक देगा भोजन को, पर धीरे-धीरे खाने लगेगा, पर जब कुछ माह बीत जाएँगे तो आप सोचेंगे कि अब तो वह अकेला बैठा-बैठा शांत हो गया होगा, लेकिन नहीं तुम ताज्जुब करोगे कि वह अपने आप से ही बातें करने लग गया है। शांत होने की बजाय उसका चित्त मुखर और वाचाल हो गया है। पहले वह भीड़ में था फिर भी कम बोला करता था, लेकिन अब जब वह अकेला हो गया है, तो अधिक पागलपन का भूत उस पर सवार हो गया और अपने आपसे ही बातें करने लग गया। अगर किसी बुद्धिमान को छः माह के लिए कमरे में बंद कर दो, तो वह बुद्ध होकर बाहर निकलेगा और अगर किसी बुद्ध को बंद कर दो, तो वह पागल होकर बाहर निकलेगा।

एकांत हमारे जीवन को सार्थकता भी दे सकता है और निरर्थकता भी। अगर आप अपनी क्षमताओं का सार्थक उपयोग नहीं करते हैं, अपनी ऊर्जा को उचित दिशा नहीं देते हैं, तो आपको भीतर कुछ दिखाई न देगा। भीतर के भगवान को तो बिसरा बैठेंगे। हाँ, शैतानियत के काँटे भले ही पा सकते हो। कई लोग कहते हैं- साहब, जब भी आँख बंद करके बैठे तो सिवाय भीतर की पशुता के कुछ भी और दिखाई नहीं देता। अंधकार दिखाई देता है। लगता है भीतर नरक-सा वातावरण बन गया है, पर इतने मात्र से संकल्प को ढीला मत करो। भीतर में प्रारंभिक तौर पर जो पशुता के दर्शन होते हैं, इस पशुता को तुमने स्वयं उपार्जित किया है। पशुता के नीचे ही तो देवत्व छुपा है। उघाड़नी पड़ेगी अपनी पशुता, अन्यथा हम तलाश तो करते रहेंगे देवत्व की और देवत्व के नाम पर हमें सदैव पशुता के ही दर्शन होते रहेंगे।

पशुता आत्मा का स्वभाव नहीं, मन का स्वभाव है। चूँकि हमारे मन में पशुता समाई है, नरक का बसेरा है। जब भी भीतर झाँकते हो, पहला सम्पर्क मन से होता है और नतीजतन हम पशुता को छूकर वापस आ जाते हैं। परमात्मा न केवल शरीर के पार है, अपितु मन के भी पार है। इस मकान के तीन खंड हैं- शरीर, मन, आत्मा। तीन में से दो का स्पर्श तो हमने कर लिया है। हमारी पहुँच शरीर और मन तक रही है और तीसरा खंड अछूता रह गया है। जब तक उसका स्पर्श न कर पाओगे, अन्तर के अंतिम स्तर पर तुम्हारी पहुँच नहीं बन पायेगी। हम केन्द्र से तो च्युत हो जाएँगे और परिधि में ही भटकते रह जायेंगे। भला हम केंद्र से च्युत होकर सुख की तलाश करेंगे

तो उससे दुःख ही मिलेगा न !

हम जिस परिधि में उलझे हैं, बाह्य वस्तुओं में उलझे हैं, क्या इनसे कभी सुख मिल पाएगा? आज जिसे हमने सुख मान रखा है, अगर हम उसी को आत्म-सुख कहते हैं तो बात अलग है, अन्यथा इन सब में किंचित् भी आत्म-सुख नहीं है। अगर संसार में, शरीर में या मन में जीने से सुख मिल जाता तो कभी भी जरूरत नहीं पड़ती महावीर को, बुद्ध को राजमहलों का त्याग कर वनवासी होने की।

यह हमारी भ्रांति है, जो हमने मान रखा है कि सब कुछ पाने से सुख मिलता है। मेरे विचार से तो चाहे मनुष्य की हथेली में संपूर्ण संसार का साम्राज्य थमा दिया जाये, इसके बावजूद दुःख तो उसके जीवन में तब भी बना रहेगा, क्योंकि सुख-दुःख का संबंध मात्र वस्तुओं से नहीं है। वह तो अन्तर्केंद्र से है। सब कुछ पाने के बावजूद यदि केन्द्र-बिंदु का स्पर्श न कर पाये, स्वरूप में प्रतिष्ठित न हो पाये, तो हमें योनि-दर-योनि पीड़ित होना पड़ेगा।

जरा कल्पना करो कि तुम छोटे-मोटे मकान के स्वामी हो, धन, मकान, परिवार के स्वामी हो। और महावीर एवं बुद्ध के पास जितना तुम्हारे पास है, उससे कई गुना ज्यादा होगा। सारी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध थीं उन्हें। लेकिन तकलीफ यही थी कि वे खुद अपने पास नहीं पहुँच पाये थे। खुद से ही अनचीन्हे रह गये। इसी का परिणाम कि सब कुछ मिलने पर भी राजमहलों में उन्हें शांति न मिली। तुम आश्चर्य करोगे कि यहाँ दुनिया के लोग सुख-शांति पाने के लिए सत्ता-संपत्ति की ओर दौड़े जा रहे हैं और महावीर-बुद्ध ने सुख-शांति पाने के लिए ही संपत्ति का त्याग किया था। ऐसा करके उन्होंने शांति पायी भी थी।

लोग कहते हैं महाराजजी! सब है, पर सुख-शांति नहीं है। जब मार्ग ही गलत पकड़ रखा है तो मंजिल मिलेगी कहाँ से? सब जगह जाकर आ गये हो शांति की तलाश में, पर नहीं मिली। निराश मत होओ, अभी एक केंद्र और है तुम्हारे लिए, जहाँ अभी तक जा नहीं पाये हो। एक बार वहाँ जाकर तो देखो। कितना अद्भुत आनंद, अपूर्व शांति वहाँ उपलब्ध है। यह ध्यान-शिविर उसी अन्तर-शांति की यात्रा के लिए उठाया गया एक कदम-भर है। इन दिनों में तुम उतरोगे शरीर के पार, मन के पार, विचारों के पार। इन सबके पार जहाँ पहुँचोगे वहीं तुम्हारा मूल केंद्र-बिंदु होगा, फिर तुम वहाँ पहुँचने के बाद अव्याबाध आनंद की अनुभूति कर सकोगे।

कभी कुएँ को खुदते देखा है? कूप कभी ऊपर के पानी की अपेक्षा नहीं रखता। उसकी आपूर्ति तो भीतर के झरनों से ही हो जाती है। खुदाई करते-करते माटी हटी और पानी ऊपर आ गया। पानी कहीं बाहर से नहीं डाला गया, भीतर ही था। परिश्रम

केवल माटी को हटाने का ही हुआ। यह ध्यान-शिविर उसी माटी को हटाने का उपक्रम है और अगर यह माटी हट गई, तो हमें पता लगेगा कि हमारे भीतर अनन्त ज्ञान मौजूद है, अनन्त शक्ति मौजूद है, अपरिसीम शांति और आनंद है। प्रयास आनंद को पाने का नहीं करना है, आवरण को हटाने का कारण है। जैसे कहीं कोई दीप जल रहा हो और हमने उसके आगे काले पर्दे लगा दिये हैं। अब उस दीपक का प्रकाश किसी को दिखाई नहीं दे रहा है। इसका अर्थ कदापि यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि दीपक बुझ चुका है। वह तो अभी भी प्रज्वलित है। आवश्यकता है आवरणों को हटाने की।

जिसने भी आनन्द को पाया है, अपने ही भीतर पाया। अपने से बाहर जीकर कोई शांति या आनन्द को नहीं पा सका है। इसलिए महावीर और सिकंदर के जीवन का हम बारीकी से निरीक्षण करें तो पता लगेगा कि सिकंदर ने सब कुछ पाकर भी सार को नहीं पाया था और महावीर ने सब कुछ खोकर भी सब कुछ पा लिया।

लोगों की जो शिकायतें हैं वे बेवाजिब नहीं हैं कि दुनिया में शांति नहीं मिलती। मिलेगी कहाँ से? जो चीज जहाँ है ही नहीं, वहाँ उसकी चाहे जितनी तलाश कर लो, वह तलाश एक अन्तहीन खोज बनकर रह जायेगी, पर तुम सफल नहीं हो पाओगे।

सुई अगर घर में खोई है तो घर में ही मिलेगी। माना घर में अँधेरा है, बाहर प्रकाश है, पर इससे क्या! वह बाहर का प्रकाश हमें उस सुई की उपलब्धि नहीं करा सकता, जो घर के भीतर खोई हो। मनुष्य के साथ भी तो ऐसा ही हो रहा है। चूँकि हमारी इंद्रियों के सारे निमित्त बाहर से जुड़े हैं, इसलिए हमारी तलाश बाहर से जुड़कर रह जाती है। अज्ञानी शांति के स्रोत को बाहर ढूँढ़ता है और ज्ञानी स्वयं में ही उपलब्ध कर लेता है।

खोज स्वयं से प्रारम्भ होनी चाहिए, पर से नहीं। पहले अपने घर में खोजें अगर वहाँ न मिले तो दुनिया में खोजने जाएँ। तुमने सारी दुनिया में खोज लिया, पर वहाँ तो ढूँढ़ा ही नहीं जहाँ तुम हो। इस विराट दुनिया में सब खोजकर आ गये, पर अपने छोटे से घर में तुम न खोज पाये। छोड़नी है अब बाहर की यात्रा को और प्रवेश करना है अन्तर की यात्रा में। 'वह' जिसकी तलाश हम युगों से कर रहे हैं, हमारी अंतर-गुहा में विराजमान है।

धर्म की जिज्ञासा का संबंध मात्र इस बात से नहीं है कि आप चर्चाएँ करते रहें, प्रश्न उठाते रहें— ईश्वर है या नहीं? स्वर्ग-नरक है या नहीं? जगत् को किसने बनाया? आत्मा एक है या अनेक? अब भला इन सबकी खोज से तुम्हें मिल भी क्या जायेगा? अध्यात्म की जिज्ञासा में प्रवेश करो और जिज्ञासा अपने आपकी अपने

आपसे उठाओ। आखिर इसका क्या कारण है कि मैं दुःख से मुक्त होना चाहता हूँ और आनन्द को उपलब्ध करना चाहता हूँ, क्यों? क्योंकि दुःख विजातीय है और आनन्द तुम्हारा स्वरूप है। इसलिए सुख की हमें चाह करनी पड़ती है, पर आनन्द की तो चाह भी नहीं करनी पड़ती, वह तो हमारा स्वभाव है। जो स्वभाव को उपलब्ध हो चुका है, वह आनन्द को उपलब्ध हो चुका। कभी सोचा, आदमी को अंधकार प्रिय क्यों नहीं लगता? क्योंकि प्रकाश हमारा स्वभाव है, उज्ज्वलता हमारा स्वरूप है, हम विषपायी नहीं हैं, हम अमृतवाही हैं। आत्मा अमृत-धर्मा है।

विश्लेषण करें स्वयं का, अपने जीवन का। इस विश्लेषण से ही सही जिज्ञासा जग पाएगी। पर हमारा चिंतन मात्र बाह्य परंपराओं से जुड़ा रह जाता है, परिणाम अध्यात्म की आत्मा का हम स्पर्श नहीं कर पाते हैं। केवल ग्रंथों को रट लेने से क्या हो जायेगा? ग्रंथों की गाथाओं को तो तुम याद कर लोगे, पर भीतर की ग्रंथियाँ न खुल पाईं तो क्या लाभ? तुम निर्ग्रन्थता मात्र ग्रंथों से आत्मसात् नहीं कर पाओगे। तुम आत्म और परमात्मा पर जीवन भर प्रश्न उठाते रहोगे, पर उन्हें उपलब्ध न कर पाओगे। प्रश्नों से कभी परमात्मा मिला है? वह तो तब मिल पायेगा, जब प्रश्न तिरोहित हो जाएँगे और प्रेम अवतरित हो जायेगा। प्रश्नों में जी-जीकर तुम पंडित हो जाओगे, पांडित्य उपलब्ध कर लोगे, पर प्रज्ञा का जागरण तो तब भी नहीं हो पायेगा। अपना उद्देश्य पंडित बनाना नहीं है, प्रज्ञा का जागरण करना है। यह प्रज्ञा-जागरण का ही प्रभाव है, अन्तर्निर्मलता का ही परिणाम है कि अतिमुक्त सचित्तजल छूकर भी परमात्मा को पा गया और शेष संत छोड़कर भी उसे न पा उसे। कुरगुड़क मुनि के बारे में सुना होगा कि वे संवत्सरी के दिन, जब प्रायः सारे जैन उपवास करते हैं, उस दिन भी वे भोजन करके परम ज्ञान को पा गये। इलायची कुमार नृत्य-प्रदर्शन करते हुए, डोरी पर नाचते-नाचते ही परम ज्ञान को पा गये।

अब जरा तुम सोचो कि हमारे जीवन में चूक कहाँ हो रही है। चूक, जीवन की सबसे बड़ी चूक तो यही है कि हम केवल बाहर तक ही सिमटकर रह गये हैं। अन्तर-अस्तित्व की ओर हमारी नजर न गई। बाहर की उज्ज्वलता तो उपलब्ध कर ली, पर भीतर की कलुषता से मुक्त नहीं हो पाए। वह बाहर की उज्ज्वलता किस काम की, जिसका अतरंग कल्मष है। साधना के नाम पर धूप में खड़े हो जाओगे, पर मन छाँव चाहेगा। तुम उपवास करोगे, पर मन भोजन चाहेगा। शरीर क्या कर रहा है यह बात गौण है, पर चित्त क्या कर रहा है यह बात मुख्य है।

यह ध्यान-शिविर हमारे चित्त की परतों का उद्घाटन करने के लिए ही है। हमें बाहर से मुक्त करके आत्म-दर्शन कराने के लिए है। अपने उत्साह को बढ़ाना।

अपनी 'प्यास' को जगाये रखना। महावीर को याद करने का अर्थ महावीर की प्यास हमारे भीतर जग जाना है। अगर संकल्प दृढ़ रहा तो शिविर तुम्हारा बीज अंकुरित होने की भूमिका तैयार कर सकता है।

आज सुबह के ध्यान के बाद एक बहिन कह रही थी कि महाराजजी, अपूर्व आनन्द आया। आपने अद्भुत आनन्द बरसाया। मैंने कहा- ऐसा कुछ नहीं है। कोई आनन्द बरसाया नहीं गया है, तुम्हारे भीतर जो था वह जगना शुरू हो गया है। निर्झर के आगे पड़े पत्थर अब हटने लगे हैं और आज का आनन्द उसी की फुहार है।

इसलिए संभव हो तो अपनी अन्तर-ज्योति को अवश्य जगा लेना। इस बात से सावधान रहना कि किसी दूसरे की ज्योति के सहारे पर ही अपने आपको न छोड़ देना। श्रम करना पड़ेगा, श्रमण होना पड़ेगा। जिन्होंने भी अब तक उपलब्ध किया, श्रम से उपलब्ध किया है, संकल्प से उपलब्ध किया है, धैर्य और ध्यान से उपलब्ध किया है। अब तक इस ज्योति को मृण्मय में ढूँढते आए हैं, अगर उतर गये चिन्मय में तो वह ज्योति वहाँ प्रज्वलित ही है।

अध्यात्म के समस्त मार्गों का मूल सत्य की खोज करना ही रहा है। अगर हम सत्य को उपलब्ध करना चाहते हैं, तो हमें सब कुछ छोड़कर अपने भीतर में प्रवेश करना होगा, अतीन्द्रिय होकर चेतना में प्रवेश करना होगा। इस ध्यान-शिविर में आप अपनी चेतना के अंतिम स्वर का स्पर्श कर सकें, मेरा यह पूरा प्रयास होगा।

मेरे प्रभु, अन्तर्ज्ञान को उपलब्ध करने के लिए मेरे ये संकेत हवा की तरंगों में व्याप्त हो जाएँ, समुद्र की लहरों के साथ अनन्त तक पहुँच जाएँ, ताकि सारी दुनिया में ये अमृत की फुहारें, जो आपके अन्तरनिर्झर से उठ रही हैं, फैल सकें। प्रणाम उन सब दिव्य आत्माओं को, जिन्होंने चेतना के अन्तिम स्तर का, परिनिर्वाण का स्पर्श किया, उन्हें भी प्रणाम जिन्होंने आज उसका स्पर्श करने के लिए अपना एक पाँव आगे बढ़ाया है।





ऊर्जा की सघनता

ऊर्जा का विस्तार ही जगत् है और ऊर्जा की सघनता ही जीवन है। जैसे-जैसे ऊर्जा बाहर विस्तार लेती जाती है वैसे-वैसे जगत् का विस्तार होता है। जब ऊर्जा सघनता का रूप ले लेती है तब जीवन का निर्माण होता है। ऊर्जा ही वह तत्त्व है जिस पर सम्पूर्ण जीवन-जगत् टिका हुआ है। जगत् का अस्तित्व ही ऊर्जा पर कायम है। जिस तत्त्व से पानी बह रहा है, अग्नि जल रही है, बादल चल रहे हैं, वृक्ष लहलहा रहे हैं, उस प्रत्येक तत्त्व का नाम ऊर्जा है।

तुम अपने शरीर के मूल स्रोत को देखना चाहो, जानना चाहो कि तुम्हारा मूल स्रोत क्या है तो पाओगे कि वह अणुरूप था। धीरे-धीरे उस अणुरूप ने विस्तार पाना शुरू किया। तब भी तुम अपने शरीर के अस्तित्व का मूल स्रोत जानना चाहोगे तो पता चलेगा कि वह स्रोत इतना छोटा है कि जितनी गंगोत्री की धार। जिन्होंने गंगोत्री की धार देखी है वे जानते हैं कि वह जब गोमुख से आती है अत्यंत संकुचित होती है लेकिन वही धार फैलते-फैलते गंगा के रूप में विस्तार पाते हुए सागर में विलीन होते-होते अत्यंत विराट हो जाती है। जब जीवन के गंगासागर के आदि स्रोत को ढूँढ़ने का प्रयास करोगे तो पता चलेगा कि इसका स्रोत भी गंगोत्री के गोमुख से अधिक बड़ा नहीं है।

तुम थोड़ा पीछे लौटो अपने जीवन में। आज तुम चालीस वर्ष के हो, उससे पहले तीस वर्ष के थे, कभी बीस के, दस के, पाँच के, एक वर्ष के, छः मास के, एक महीने

के, एक सप्ताह के और एक दिन के थे। उसके भी पार जाओगे? उसके पार तुम्हारे जीवन का अस्तित्व इस सृष्टि में कहीं छिपा हुआ था। उसके भी पार जाना चाहोगे? जब तुम अपने अस्तित्व को पाने के लिए इस सृष्टि के किसी स्रोत के माध्यम से बाहर निकलने का प्रयास कर रहे थे। उस क्षण तुम सिर्फ अणुरूप थे। जैसे-जैसे उस अणु को ऊर्जा का सामीप्य मिला, वही अणु विराटता को उपलब्ध होता रहा। अणु ने धीरे-धीरे विस्तार पाना शुरू किया। ऊर्जा की सघनता ने दो रूप दिये। कोई नर के रूप में और कोई नारी शरीर में विकसित हुआ।

इस शरीर का, जीवन का पूरा ताना-बाना उसी ऊर्जा की सघनता का परिणाम है। इसीलिए मैंने कहा जहाँ ऊर्जा का विस्तार होता है वहाँ संसार का निर्माण होता है और जब ऊर्जा सघन होती है तो जीवन की निर्मिति होती है। आपने पाया होगा कि एक ही शक्ति अनन्त में बँट जाती है। हम अपने दैनिक जीवन में विद्युत का उपयोग करते हैं। शक्ति का स्रोत एक है और उपयोग अनेक। वही धारा कहीं रोशनी उत्पन्न करती है, कहीं रेडियो में से ध्वनि बनकर आती है, वही टी.वी. में दृश्य दिखाती है। कभी फ्रिज में ठंडक और कभी हीटर में गरमाहट लाती है। फ्रिज में ठंडक और हीटर में गरमाहट ये दोनों ही विद्युत की ऊर्जा के दो रूप हैं। एक ही ऊर्जा विभिन्न रूपों में बँट जाती है।

ऐसा न सोचें कि इस शरीर के निर्माण में, रख-रखाव में केवल हम ही सहायक हैं, ऐसा नहीं है। यह तो हमारी संकुचित दृष्टि हो गई है कि शरीर के निर्माण का श्रेय केवल माता-पिता को दे दिया है या उसके संचालन का श्रेय स्वयं को, अपने परिवार और बाह्य स्थितियों को दे दिया। इस सृष्टि के सम्पूर्ण तत्त्व, सारे बिन्दु मिलकर हमारे शरीर का निर्माण और उसका संचालन करते हैं। हम जानते हैं सूर्य प्रतिदिन निकलता है और अस्त होता है। यदि यह निकलना बंद कर दे, तो हम ठंडे पड़ जाएँगे और इसी तरह सदैव जलता रहे तो हम भी जल जाएँगे। प्रकृति का सन्तुलन हमारे अस्तित्व में सहयोगी है। सूर्य की रश्मियाँ भी हमारे शरीर के विकास में सहयोगी हैं। निरन्तर बहती हवाएँ हमें प्राण-वायु प्रदान कर रही हैं। आकाश जो देख रहे हो, इसका अर्थ समझते हो, सृष्टि में जहाँ-जहाँ रिक्तता है, खालीपन है, अवकाश है, वहीं आकाश समाया हुआ है।

मेरे हाथ की इन दो अँगुलियों को देखते हो? ये हथेली पर तो टिकी हैं, पर इन दोनों के मध्य जो आकाश 'अवकाश' है वह भी आधार है। इस मध्य की रिक्तता का नाम ही आकाश है। इसलिए शरीर के निर्माण में प्रकृति के पाँचों तत्त्वों- आकाश, जल, अग्नि, पृथ्वी और पवन, सभी की आवश्यकता पड़ती है। इनके बिना न शरीर

का निर्माण होता है और न संचालन ।

जब सम्पूर्ण अस्तित्व हमारा सहयोगी है, तब अपनी ऊर्जा को इस शरीर तक ही सीमित क्यों रखें। अपनी ऊर्जा की धारा को, उसके तेज को, अपनी आत्म-चेतना को सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ विराट होकर एकाकार हो जाने दें। ध्यान का एक उद्देश्य यह भी है कि हमारी ऊर्जा जो इस छोटे-से शरीर में समाई हुई है, वह अस्तित्व की विराटता के साथ तादात्म्य स्थापित करे।

यह न समझना कि ध्यान से सिर्फ हमारे शरीर की शक्ति या ऊर्जा ही जाग्रत हो रही है बल्कि जब हम ध्यान से ऊष्ण होते हैं तो हमारा संबंध सूर्य-रश्मियों से जुड़ जाता है। हमारी श्वास के साथ दुनिया भर की हवाएँ संपर्क रखती हैं। हमारी पाचन-शक्ति की अग्नि से सृष्टि की अग्नि का सम्पर्क है, हमारे रुधिर से जो जल प्रवाहित हो रहा है, उसका सम्पर्क सृष्टि की अथाह जल राशि से जुड़ा हुआ है। इसलिए अपनी ऊर्जा को शरीर तक सीमित मत रहने दो। इसे अस्तित्व के अंतिम बिंदु तक फैल जाने दो। अपने आपको विराट हो जाने दो। सृष्टि के पाँचों तत्त्व हम में तदाकार हो जाएँ। यानी इस तरह हमारी आत्मा अस्तित्व की विराटता को उपलब्ध कर लेगी।

ध्यान के माध्यम से हृदय-कमल को खिलाकर, उस परम तत्त्व, परम ज्योति को आविर्भूत करने का प्रयास करते हो इसका अर्थ क्या हुआ? यदि व्यक्ति का इन हवाओं के साथ, अग्नि के साथ संपर्क नहीं होता तो अनथक प्रयास करने के बाद भी उस परमात्म-तत्त्व को उपलब्ध नहीं कर पाते, क्योंकि आपकी आवाज में वह शक्ति नहीं है कि उस ध्वनि को अनन्त आकाश में पहुँचा सको। लेकिन हमारा सम्पर्क हवा के साथ है और हम हमारी ध्वनि को जहाँ हम चाहते हैं वहाँ पहुँचाती है। वायु-अग्नि, आकाश, पृथ्वी- ये सब जीवन के सहायक तत्त्व हैं। हम ध्यान के द्वारा इन्हीं सहायक तत्त्वों से तदाकार होने का प्रयास करते हैं।

आपको ध्यान में श्वास के साथ ॐ का रमण करवाया जाता है, क्यों? क्योंकि हवा जीवन का तत्त्व है, यह पर-पदार्थ नहीं है। शरीर और आत्मा दोनों का मिलन सेतु पवन है, श्वास है। जिस दिन यह सेतु विच्छिन्न होता है, शरीर और आत्मा का सम्पर्क भी समाप्त हो जाता है।

कबीर ने कहा कि ध्यान के द्वारा व्यक्ति अपनी बूँद को सागर में समाविष्ट कर लेता है। 'हेरत-हेरत हे सखि रब्बा कबीर हिराई, बूँद समानी समुद्र में सो कत हेरत जाई'- बूँद समुद्र में समा गई। लेकिन इसका उलट भी होता है। यदि तुम ध्यान में रमण करने लगे, ध्यान के सागर में डुबकी लगाने लगे, तो पाओगे समुद्र ही बूँद में समा गया- समुद्र समाना बूँद में। अपनी बूँद को तो सागर में हरेक विलीन कर

सकता है। सागर में तो बूँद जाती ही है, वह तो इतना विराट है कि सभी बूँदों को अपने में समा सकता है, लेकिन बूँद में समुद्र समा जाए, वही ध्यान का अवदर दान है।

ध्यान के द्वारा तुम अपने अस्तित्व को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैला देते हो। उपनिषद कहते हैं- 'एकोऽहं बहुस्याम' मैं एक हूँ, बहुत में बँट जाऊँगा- बहुत में फैल जाऊँगा। तब तुम्हारे अंदर की एक बूँद में सारी सृष्टि, सारा ब्रह्माण्ड समाविष्ट हो जाएगा। 'समुद्र समाना बूँद में'- अगर अपनी बूँद को इतनी विराटता नहीं दे पाओगे तो उस निराकार परमात्मा को जिसे कोई बूँद मत समझो, सागर की जितनी विराटता है, उससे अनन्त गुनी विराटता उस परमात्म तत्त्व की है। उसे तुम अपने भीतर कैसे समाविष्ट करोगे? हमें अपनी बूँद को सागर की क्षमता में बदल लेना है, तभी उस पर ज्योति से, जो सृष्टि के आदि से अंत तक विद्यमान है, तदाकार हो पाओगे।

हमारे मार्ग में अनंत रुकावटें आ सकती हैं फिर भी ध्यान के मार्ग से विचलित मत होना। यह विचलन हमें हमारी अपार संभावनाओं से भी चुका देगा। हम जो हो सकते हैं, हम जिसे पा सकते हैं, हमारा भय हमें उन सबसे दूर फेंक देगा।

तुम्हारे आस-पास किसी की चीख उठी, तुम काँप पाए। किसी की आवाज ने तुम्हारे मन में संदेह भर दिया, 'मैं कौन हूँ' की ध्वनि ने तुम्हारे अन्दर विचारों का बवंडर उठा दिया। कहीं से आवाज आई 'अहं गच्छामि' तो दूसरे संवेग जागने लगे- उस समय तुम्हारे भीतर की यह संभावना थी कि तुम भी इसी तत्त्व को प्रकट करते कि 'अहं गच्छामि'- मैं उस परमतत्त्व के नजदीक जा रहा हूँ लेकिन तुमने उसे मनोरंजन तक सीमित रख दिया। यदि तुम चाहते तो आस-पास ध्यान की आविर्भूत हुई ज्योति को ध्यान की सघनता में अपने भीतर समाहित कर सकते थे। लेकिन तुम ऐसा नहीं कर पाए। बस, इधर-उधर झाँकते भर रह गए।

मुझे याद आ रहा है पिछली बार जब ध्यान-शिविर लगा हुआ था, वह शायद चौथा दिन था, एक सत्तर वर्षीय वृद्ध मेरे पास आए और क्षमा माँगने लगे। उनकी आँखों में अश्रु थे और बार-बार क्षमा याचना कर रहे थे। मैंने कहा- क्षमा, कैसी क्षमा, किस बात की क्षमा! आप तो उम्र में मेरे पिता समान हैं- फिर मैं तो परिचित भी नहीं हूँ कि आपसे क्या भूल हो गई है। कहने लगे- मुझे अपने जीवन के प्रति अपराध-बोध हो रहा है। विगत दिनों में मेरे मन में ध्यान को लेकर जो गलत विचार पैदा हुए, उनके प्रति आज मेरे मन में अपराध-बोध है- उसी के कारण आँखों में आँसू और हृदय में पश्चाताप है। बताने लगे कि वे एक डॉक्टर हैं। धर्म और अध्यात्म में उनकी कोई रुचि नहीं थी, लेकिन किसी के कहने पर ध्यान-शिविर में सम्मिलित

हो गए थे।

यहाँ उन्होंने देखा कि कुण्डलिनी-जागरण की प्रक्रिया में साधक चैतन्य-देह हो रहे थे। कोई कुछ कर रहा था, कोई कुछ, गजब का समां था- जैसे इस कक्ष का अस्तित्व ही आप्लावित हो गया हो। वे सज्जन भी यहाँ मौजूद थे तो उन्हें ख्याल आया कि ये सब व्यक्ति जो इतना ऊधम (हँसी) मचा रहे हैं, गुरुजी के ही सिखाए-पढ़ाए हैं।

किसी की चेतना के जागरण पर तुम्हारे मन में जो नाटकीयता के भाव जाग्रत हुए यही तुम्हारा अन्तराय है। जहाँ चेतना जीवन्त होती है, उसे तुम पहचान ही नहीं पाते और नाटकों की संज्ञा देकर स्वयं भी वंचित रह जाते हो।

अब वे सज्जन आँखों में अश्रु भरकर खड़ हैं। कह रहे हैं- मैंने तो समझा ये आप ही के प्रशिक्षित लोग हैं। लेकिन उनके मन में विचार आया कि इसकी परीक्षा करनी चाहिए। उन्होंने चार-पाँच अन्य डॉक्टरों से विचार-विमर्श किया और उन्हें भी ध्यान-शिविर में ले आए। लेकिन उन्हें गहरा आश्चर्य हुआ, जब उन्होंने उन डॉक्टरों को भी यहाँ चैतन्य हुए पाया। पहले के लोग तो प्रशिक्षित हो सकते थे लेकिन डॉक्टर, ये तो पहली बार ही यहाँ आए हैं और अभी तो महाराज से मिले भी नहीं हैं। वे सज्जन उन डॉक्टरों के घर गए और पूछा- तुम लोगों ने गुरुजी से क्या पाया? तुम लोग अद्भुत अनूठे क्यों लग रहे थे? ये आँसू, ये पुकार-तड़फन, ये सब कहाँ से आ गए? उन डॉक्टरों ने कहा, 'हमें भी पता नहीं लगा, ये आँसू कहाँ से आए, कहाँ से आनन्द की अनुभूति हुई, कैसे हाथ-पाँव योगमय हो गये, हमें कुछ पता नहीं लगा। हमें कोई संकेत भी नहीं मिला। और वे वृद्ध डॉक्टर कहने लगे, 'गुरुश्री! आप विश्वास नहीं करेंगे तीसरे दिन वह 'नाटक' मुझमें घटित होने लगा। दूसरों में घटित होने वाली जिस चेतन-धारा को मैंने नाटक समझ लिया था, वह मुझमें उतरने लगी। मैं स्वयं को संभाल न पाया और तब मुझे प्रतीति हुई कि यह नाटक नहीं। यह ध्यान की सघनता है। ऊर्जा की सघनता है।' सिर्फ गहराई में जाने की आवश्यकता है।

व्यक्ति जब ध्यान के द्वारा अपनी ऊर्जा को सघनता प्रदान करता है, विराटता देता है, तब जीवन में परम धारा, परम-दशा और परम आनन्द की अनुभूति होती है। जब भी जीवन में इस परम अनुभूति की वेला आएगी, शरीर में मानो चेतना का विस्फोट होगा, क्योंकि उस क्षण में आत्मा अनन्त आकाश की ओर उठने का प्रयास करेगी। ध्यान में इसकी जीवंत अनुभूति होती है। विदेहानुभूति ही तो ध्यान है।

ध्यान देह में, विदेह की साधना है। कुछ साधक ध्यान की त्वरा को तत्काल उपलब्ध हो जाते हैं, तो कइयों को वक्त लगता है। आचार्य हरिभद्र ने साधना के मार्ग

में 'कुलयोगी' शब्द का प्रयोग किया। कुलयोगी का अर्थ है किसी व्यक्ति ने पूर्व जन्म में साधना की और साधना की जितनी विराटता थी उतनी आयुष्य की विराटता नहीं थी। उसकी साधना पूर्ण होनी थी दो वर्षों में, आयुष्य पूर्ण हो गया सत्तर वर्ष में। अब एक सौ तीस सौ वर्ष बच गए। हरिभद्र कहते हैं उसने पुनः जन्म धारण किया और किसी सद्गुरु के सम्पर्क में आते ही वापस उसने साधना प्रारम्भ कर दी। सद्गुरु का संस्पर्श पाते ही वह अपने में लौट आया और साधना शुरू हो गई। आचार्य कहते हैं वही व्यक्ति 'कुलयोगी' है। क्योंकि कुल से, परम्परा से, पूर्वभव से, उसने योग को उपलब्ध किया है।

आप देखते होंगे इस शिविर में कुछ लोग ऐसे हैं, जो ध्यान में बैठते ही कुछ क्षणों में गहराई में उतर जाते हैं। वास्तव में वे कुलयोगी हैं। अतीत में साधना करते आए हैं, शृंखला टूट गई थी, आयुष्य पूर्ण हो गया, साधना जारी रही। इस देह में आकर सद्गुरु का जैसे ही सम्पर्क मिला, साधना पुनः आगे बढ़नी प्रारम्भ हो गई। इसलिए साधना को, ध्यान को शिथिल मत होने देना। मैं तो कहना चाहूँगा कि अपने घर में किसी छोटे से कमरे को 'ध्यान-कक्ष' की, 'ऊर्जा-कक्ष' की संज्ञा देना और प्रतिदिन वहाँ साधना करना। यह मत समझना कि तुम पन्द्रह वर्षों से ध्यान कर रहे हो तो केवल तुम ही प्रभावित हो रहे हो, तुम्हारे साथ-साथ आस-पास का सारा वायुमण्डल भी प्रभावित हो रहा है।

आप कभी रामेश्वरम् गए हों या विवेकानन्द शिला (कन्याकुमारी) गए हों, तो आपने भी अनुभव किया होगा कि वहाँ जो आनन्द मिलता है, वह शब्दातीत है। कोई सात वर्ष पूर्व मैं पाण्डिचेरी स्थित अरविंद आश्रम में गया। वहाँ अरविंद की समाधि के पास कोई दो घंटे बैठा रहा। लोग आ रहे थे, दर्शन करके निकलते जा रहे थे, कहीं कोई आहट नहीं। मैंने इन वर्षों में जो जीवन्त समाधि देखी उनमें अरविंद भी एक हैं। समुद्र के किनारे पाण्डिचेरी में वह आश्रम है। मैं वहाँ दो घंटे बैठा और बैठने के करीब दस मिनट बाद ही मुझे महसूस हुआ कि इस स्थल पर उन्होंने इतने लम्बे असें तक साधना की है कि यहाँ सम्पूर्ण वायुमण्डल ऊर्जामय हो चुका है, ध्यानमय, ज्योतिर्मय हो चुका है। मुझे लगा उस समाधि से निकलकर ऊर्जा मुझमें समा रही है। ऊर्जा तो वहाँ सदा है लेकिन अनुभूति सिर्फ उन्हें होती है जिनमें ग्रहण करने की क्षमता हो। प्रतिदिन लोग आते थे, दर्शनार्थी की तरह, उनके अन्तस् में कोई अभीप्सा नहीं थी। कुछ गिने-चुने व्यक्ति जरूर उस ऊर्जा को आत्मसात कर रहे थे। इसीलिए मैं कहता हूँ अपने घरों में एक ध्यान-कक्ष अवश्य बनाएँ। जहाँ आप निरन्तर साधना करते रहें। फिर देखें, वह कक्ष कितना ऊर्जामय हो चुका है। निश्चित ही तीन वर्षों के उपरान्त वह इतना ऊर्जावान हो जाएगा कि आप किसी अशान्त,

बेचैन, तनावग्रस्त व्यक्ति को वहाँ थोड़े समय के लिए बिठाएँगे तो उसे राहत अवश्य महसूस होगी। वहाँ ध्यान की, समाधि की, अहोभाव की, परम ज्योति की, परम-तत्त्व की ऊर्जा फैली हुई है। वहाँ जब भी बैठोगे तुम्हें तदाकार परम ज्योति स्वरूप की उपलब्धि होगी।

जानते हो लोग हिमालय पर साधना करने क्यों जाते हैं? वहाँ की जैसी शांति और निःस्तब्धता तो आज के वैज्ञानिक युग में घरों में भी प्राप्त की जा सकती है। रिकॉर्डिंग स्टूडियो देखे हैं, जहाँ 'साउन्ड प्रुफ' दीवारें होती हैं। बाहर बम-विस्फोट भी हो जाए, पर ध्वनि अन्दर न आ सकेगी। ऐसे ही कमरे तुम घरों में भी बनवा सकते हो जहाँ तुम एकाकी हो सको लेकिन फिर भी लोग हिमालय क्यों जाते हैं? हजारों किलोमीटर दूर वर्षों तक वहाँ साधना करने का क्या प्रयोजन? जब मैंने हिमालय-यात्रा गोमुख-गंगोत्री तक की, तब मैंने खोज की कि आखिर ऋषियों को यहाँ की गुफाओं तक आने की आवश्यकता क्यों हुई। मैंने पाया कि इसकी आवश्यकता थी, क्योंकि जिस गुफा में साधक साधना कर रहा है उस गुफा में न जाने कितने साधकों ने साधना करके उसे जीवन्त और ऊर्जस्वित किया है। कितने ऋषियों-संतों की ऊर्जा उस गुफा में समायी होती है। मैंने पाया कि एक कमरे में ध्यान करने की अपेक्षा हिमालय की गुफा में ध्यान करने पर ऊर्जा में त्वरित रूपान्तर होता है, ऊर्जा गतिमान होती है, विशिष्ट ऊर्जा उपलब्ध होती है। जैसे ही ध्यान में उतरते हो तो ऐसा लगता है कोई प्रकाश की आभा व्याप्त हो रही है, कोई ज्योतिर्मयता अन्तरंग में उतर रही है।

यूँ तो तुम बाहर कितना भी परमात्मा को खोजते रहो, कभी परमात्मा को न पा सकोगे। लेकिन एक ध्यानमय कक्ष की ऊर्जा तुम्हें तुम्हारे अन्तर में उतार सकेगी। वह कक्ष किसी मंदिर से कम न होगा। जो शांति तुम बाहर खोजते फिरते हो, वह तुम्हारे ही भीतर है। केवल देखने की आवश्यकता है। बाहर तुम चाहे जितना खोज लो, परमात्मा को न पा सकोगे। आन्तरिक विकृतियाँ अन्तस् में यथावत् बनी रहेंगी और तुम सांसारिक क्रिया-कलापों में उलझे सांसारिक प्राणी मात्र रह जाओगे। जीवन में कुछ उलब्ध नहीं कर पाओगे। एक कमरे में तुम जन्म लेते हो, उसी में अपना सारा जीवन गुजार देते हो। यहाँ तक कि प्राण-पखेरू भी उड़ जाते हैं फिर भी तुम कुछ उपलब्ध नहीं कर पाते। लेकिन ध्यान-साधना के द्वार में प्रवेश कर तुम उस कमरे को परमात्मा का मंदिर बना सकते हो। तुम्हारे ध्यान की ऊर्जा वहाँ पर शांति घटित कर सकेगी।

अपनी ऊर्जा को धीरे-धीरे विराट रूप देने का प्रयास करो, ताकि वह विस्तृत होती चली जाए। यदि अन्तस् में भय फँसा रहा, संकुचितता समाई रही तो कभी कुछ

उपलब्ध न कर पाओगे। वही राग-द्वेष के दायरों में फँसे रह जाओगे, कभी इनसे मुक्त न हो पाओगे।

जैन दर्शन में तीन मूल्यवान शब्द हैं। वे तीन शब्द हैं- राग, विराग और वीतराग। इन तीनों को बहुत गहराई से समझना। राग- इसका अर्थ है आसक्ति, विराग- अनासक्ति और वीतराग- जिसमें न आसक्ति है न अनासक्ति। एक आत्म-साधक के लिए यह बहुत कीमती अर्थ है। राग अर्थात् तुम किसी से जुड़े हुए थे- धन से, अर्थ से, सम्पत्ति से, पद से, प्रतिष्ठा से, पत्नी से, परिवार से, सभी से आसक्ति और विराग अर्थात् अब तुम्हें उन सबके प्रति उपेक्षा हो गई जिनसे राग था और वीतराग का अर्थ है राग या विराग का भाव ही निकल गया। न अपेक्षा, न उपेक्षा।

संत कबीर के एक पुत्र था कमाल। बड़े कमाल का था। कबीर का बेटा था, इसीलिए कबीर चाहते थे कि कमाल भी उनके जैसा जीवन जीए। धन के प्रति कोई आसक्ति न रखे। लेकिन कमाल तो कमाल ही था। कोई धन-सम्पत्ति या अन्य वस्तुएँ लेकर आता तो कबीर लेने से इंकार कर देते। पर लोग वे चीजें कमाल को देते तो वह तुरन्त रख लेता। एक बार भी मना न करता। बिना पिता की परवाह किए सब स्वीकार कर लेता। फिर भी स्वयं को संत कहता। कबीर ने बहुत समझाया- तुम संत हो। तुम्हें धन से क्या सरोकार, तुम ये वस्तुएँ मत स्वीकारो। लेकिन कमाल कहता, मुझसे यह सब संभव नहीं है। मैं यह सब न कर सकूँगा, क्योंकि कल तक जिस तत्त्व के प्रति मेरा राग था आज उसी से घृणा करूँ- यह मुझसे न होगा। कल तक मैं जिसके पीछे भाग रहा था आज उसे छूने से भी इंकार करूँ- मैं यह नहीं कर सकता। ये तो मेरे मन में राग के प्रति द्वेष को पैदा करने वाले भाव हैं। आसक्ति को पैदा करने वाले भाव घृणा के भाव हो गए।

कबीर ने अपने बेटे कमाल को आखिर अपने घर से अलग कर दिया। उन्होंने कह दिया तेरी विचारधारा मुझसे नहीं मिलती, तू कोई साधु नहीं है, चला जा यहाँ से। कमाल ने अपनी दूसरी कुटिया बना ली। वहीं अलमस्ती से जीने लगा, फकीरी में मस्त रहने लगा।

एक दिन काशी नरेश वहाँ कबीर का दर्शन करने पहुँचे। वहाँ कमाल को न पाकर उन्होंने पूछा, 'कमाल कहाँ है कबीर साहब!' कबीर ने कहा, 'अब वह साधु न रहा, उसे तो धन से मोह हो गया है, मैंने उसे अलग कर दिया है।' काशी नरेश ने सोचा कि जाकर उससे मिलना तो चाहिए। हो सकता है कि बाप-बेटे में न बनी हो और कबीर ऐसे ही.....। चलो चल कर देखना चाहिए।

काशी नरेश ने सोचा, चलो जानूँ तो सही क्या बात है! वे कमाल की कुटिया में

पहुँचे। कमाल को प्रणाम किया। कुछ देर इधर-उधर की चर्चा हुई। काशी नरेश ने धीरे से अपनी जेब में हाथ डाला। एक हीरा निकाला और कहा, 'आप इस हीरे को स्वीकार कीजिए।' मन में तो वह भी सोच रहे थे कि यह फकीर है जरूर ही इंकार कर देंगे। उन्होंने कमाल की परीक्षा लेनी चाही कि अगर यह हीरा ले लेता है तो साधु नहीं है और इंकार कर देता है तो साधु है। उसने हीरा स्वीकार किया तो संसारी, अन्यथा साधु मान लूँगा। उन्होंने कमाल को हीरा दिखाया। कमाल ने देखा और मुस्कराकर कहा, इसे झोंपड़ी के छप्पर में डाल दो। नरेश ने सोचा कि कबीर ठीक ही कह रहे थे। यह साधुत्व से गिर गया है, इसने तो एक बार भी इंकार न किया। हीरा देखते ही मन लालायित हो गया और कह दिया कि छप्पर में डाल दो। मेरे जाने के बाद यह हीरा छप्पर में से निकाल लेगा। हीरा सामने हो तो किसका मन न डोल जाएगा। खैर!

काशी नरेश ने बड़े दुखते मन से वह हीरा झोंपड़ी के छप्पर में डाल दिया और कमाल को बिना प्रणाम किये वहाँ से खाना हो गए। नरेश चले गए, कमाल अपनी साधना में लीन हो गए। लगभग एक वर्ष बाद पुनः काशी नरेश को ख्याल आया कि अब देखें कमाल का क्या हालचाल है। विचार उठने लगे- कमाल ने हीरा बेचकर लाखों रुपये कमाए होंगे। झोंपड़ी से महल बना लिया होगा। हो सकता है साधु-जीवन छोड़कर गृहस्थ में आ गया हो। पता तो करें कि वह क्या कर रहा है?

काशी नरेश कमाल के यहाँ पहुँचे। पर वहाँ कोई महल न था, कुटिया वैसी की वैसी थी। उन्होंने कुटिया में प्रवेश किया, देखा कमाल तो वहीं बैठा है। नरेश ने पूछा, 'कमाल साहब! वह हीरा कहाँ है?' कमाल ने कहा, 'कौन-सा हीरा? कैसा हीरा?' काशी नरेश ने कहा, 'जो मैं झोंपड़ी के छप्पर में डाल गया था वह हीरा।' कमाल ने उत्तर दिया, 'फिर मुझसे क्या पूछते हैं, जहाँ पर रखा था, वहीं पर ढूँढिये।' काशी नरेश ने जब छप्पर हटाया तो देखा हीरा वहीं पड़ा था जहाँ वह रखकर गया था।

काशी नरेश ने अपने कान पकड़ लिए और बोले, 'कमाल, तुम तो सच में कमाल के संत हो। तुम्हारे अन्तस् का राग भी गिर गया है, विराग भी गिर गया है, तुम तो वीतरागता को उपलब्ध होकर धरती पर जी रहे हो।'

यह ध्यान भी तुम्हारे जीवन में वीतरागता की ही उपलब्धि कराएगा। यह न तो राग देगा और न विराग, यह जीवन में ऐसी धारा प्रवाहित करेगा कि तुम ही वीतरागता को उपलब्ध होकर धरती पर जी रहे हो।

महावीर का मार्ग न राग का है, न विराग का। उनका मार्ग न घृणा का है, न द्वेष का। उनका मार्ग वीतरागता का है। यदि तुम वीतरागता को उपलब्ध हो रहे हो तो तुम

जिनत्व की ओर कदम बढ़ा रहे हो। जैन न बन पाए तो कुछ घटेगा अगर जिन बन गए तो सब उपलब्ध हो जाएगा। यदि जैन से ऊपर उठकर जिनत्व की ओर कदम बढ़ा दिए तो तुम महावीरत्व की ओर बढ़े, बशर्ते जीवन में वीतरागता को उपलब्ध करने की कला आ जाए।

अन्त में, एक ऐसी कहानी सुनाता हूँ जिसने मुझे खुद के जीवन में राग और द्वेष से ऊपर उठने की शिक्षा दी।

सुना है, एक गुरु और शिष्य एक गाँव से दूसरे गाँव की ओर जा रहे थे, मार्ग में नदी आ गई। नदी में कमर तक का पानी था। दोनों ने सोचा चलो चलकर ही नदी पार कर लेंगे, कमर तक ही तो पानी है। गुरु आगे चल रहे थे शिष्य पीछे-पीछे था।

नदी किनारे पहुँचे। वहाँ बीस वर्षीय एक युवती खड़ी थी। युवती ने वृद्ध संत से कहा, 'संत बाबा! मेरा हाथ पकड़कर मुझे नदी के उस पार पहुँचा दो। मैं डरती हूँ, भयभीत हो रही हूँ कि पानी में अकेले उतरूँगी तो कहीं बह न जाऊँ।' वृद्ध संत ने कहा, 'तुम कैसी पगली हो, तुम नहीं जानती मैं संन्यासी-साधु हूँ। तुम्हें पकड़ना तो दूर मैं तो तुम्हारे कपड़ों को भी नहीं छू सकता।' युवती ने बहुत गुहार की, 'संतप्रवर! आप वृद्ध हैं, मैं अकेली हूँ, मुझे उस पार जाना जरूरी है, साँझ ढलने को आ रही है, मेरे परिवार के लोग चिन्तित होंगे, नौका है नहीं और मैं अकेली नदी को पार करने की हिम्मत नहीं रखती हूँ, कृपया मेरा हाथ पकड़कर मुझे उस पार लगा दीजिए।' लेकिन वृद्ध संत ने स्पष्ट इंकार कर दिया कि उनसे यह संभव नहीं है। युवती की आँखों में आँसू आ गए, पर वृद्ध संत तो आगे बढ़ गए।

अब युवक संत वहाँ पहुँचा। युवती ने यही कहानी उस युवा संत को भी सुनाई। 'मुझे उस पार पहुँचा दो'- युवती ने अनुनय की। युवा संत ने सोचा, 'मैं भी पानी में उतरूँगा, यह भी पानी में उतरेगी, दोनों के कपड़े क्यों गीले किये जाएँ?' उसने युवती से कहा, 'तुम्हें तो उस पार जाना है न, ऐसा करो तुम मेरे कंधे पर बैठ जाओ, मैं तुम्हें पार लगा देता हूँ।'

युवक संत ने युवती को कंधे पर बिठाया और नदी पार कर ली। युवती के कपड़े जरा भी न भीगे। पार आकर संत ने युवती को उतारा। युवती अपने गाँव की ओर रवाना हो गई और युवक संत अपने गुरु के पीछे-पीछे दूसरी ओर चल दिया।

थोड़ी दूर चलने के बाद गुरु ने प्रश्न खड़ा कर दिया। उन्होंने कहा, 'तुम दीक्षा और साधुत्व के अयोग्य हो गये हो। 'क्यों?' युवक ने पूछा। 'क्योंकि तुमने उस युवती को अपने कंधे पर बिठा लिया', वृद्ध संत बोले। 'कौन-सी युवती' युवा संत ने

प्रश्न पूछा, 'आप कैसी बात कर रहे हैं, मैंने कौन-सी युवती को कंधे पर बिठाया?' वृद्ध संत ने कहा, 'मैंने जिस युवती को हाथ पकड़ने से भी इंकार कर दिया, तुम उसी युवती को कंधे पर बिठा लाए।' युवक संत ने कहा, 'गुरुदेव' मैंने जिस युवती को कंधे पर बिठाया था, उसे वहीं नदी के किनारे छोड़ आ गया और आपने उसे छुआ तक नहीं लेकिन मन में ढोकर यहाँ तक साथ ले आए हो। मैं तो उसे वहीं भूल गया, पर आप उसे साथ में लिए आ रहे हो।'

राग जब वीतराग में परिवर्तित होता है तब कंधे पर कौन बैठा है, कौन नहीं की अनुभूति भी नहीं होती। राग, विराग जब वीतरागता में बदलता है, ध्यान की ज्योति के माध्यम से, ध्यान के गह्वर से, ध्यान के द्वार से तब व्यक्ति की चेतना अपनी महादशा-परिनिर्वाण को उपलब्ध होती है।

ध्यान-शिविर के द्वारा मैं आप लोगों से यही कहना चाहूँगा कि आपके भीतर जो ऊर्जा है उसे सामान्य ऊर्जा न समझिए। सूर्य, अग्नि, पवन सभी की शक्ति तुम्हारे अंदर है बशर्ते तुम उसे पहचानने की कला सीख जाओ। मैं यही निवेदन करूँगा कि ध्यान के केन्द्र में प्रवेश करते समय एकमात्र प्रयास यही करो कि मैं कुछ क्षणों के लिए अपनी देह से अलग हो रहा हूँ, अपनी ऊर्जा को विराट से विराट रूप दे रहा हूँ। परमात्मा की ऊर्जा और तुम्हारी ऊर्जा में इतना ही अंतर है कि तुम्हारी ऊर्जा इस शरीर में सिमटी हुई है और परमात्मा की ऊर्जा सम्पूर्ण अस्तित्व में व्याप्त हो गई है।

आज की इस पुण्य वेला में आप सभी को शुभकामनाएँ कि आप लोग अपने जीवन में प्राप्त ऊर्जा को निरंतर विस्तार देते जाएँ। जो ऊर्जा व्यर्थ खो रही है उसका जीवन मुक्ति के लिए उपयोग करें, आत्म-जागरण के लिए, आत्म-चेतना की जागृति के लिए, अन्तर्बोध के लिए।





निजता के दर्शन

संत एकनाथ अपने अन्य संतों के साथ हरिद्वार से काँवड़ में गंगाजल लेकर रामेश्वरम् की ओर जा रहे थे। दो माह बीत गए काँवड़ ढोते हुए, पर अभी आधा रास्ता ही पार हुआ था कि बीच में रेगिस्तान आ गया। संत लोग इस संकल्प के साथ कि गंगाजल रामेश्वरम् में चढ़ाएँगे, आगे से आगे बढ़ते जा रहे थे। एक दिन रेगिस्तान में संतों ने देखा कि एक गधा प्यास के मारे तड़फ रहा था।

संतों की मंडली एकत्रित हो गई और सब एक दूसरे को कहने लगे, इसके लिए पानी ढूँढ़ो। अब भला उस रेगिस्तान में पानी कहाँ से मिले। संतों के पास काँवड़ में गंगाजल तो था, लेकिन रामेश्वरम् में चढ़ाने के लिए।

संत एकनाथ सबसे पीछे आ रहे थे। उन्होंने उस गधे के ईद-गिर्द इकट्ठे संतों से कारण जानना चाहा। संतों ने कहा, यह गधा प्यास से तड़फ रहा है, लेकिन इसे पानी कहाँ से लाकर पिलाएँ। एकनाथ ने अपने कंधे से काँवड़ नीचे उतारी। पानी का पात्र हाथ में लिया और ढक्कन खोलने लगे। संतों ने प्रतिवाद किया कि जो गंगाजल रामेश्वरम् में चढ़ाना है उसे यहाँ गधे को पिला रहे हो? एकनाथ ने संतों की बात को अनसुना करते हुए पात्र का पूरा ढक्कन खोला और पात्र में भरे गंगाजल को उस गधे के मुँह में डालने लगे। संतों ने रोकना चाहा पर एकनाथ ने कहा, 'रामेश्वरम् का भगवान इस जानवर से ज्यादा प्यासा नहीं होगा।'

जब व्यक्ति अपनी दृष्टि को विराटता दे देता है, अस्तित्व के हर भाग में प्रभुता निहारना शुरू कर देता है तब डाल-डाल, पात-पात चिड़ियों की चहचहाट में, फल-फूल में, कण-कण में परमात्मा का ही अस्तित्व दिखाई देने लगता है। परमात्मा की आभा स्वतः ही चारों ओर मँडराने लगती है। जरूरत इस बात की है कि मनुष्य अस्तित्व के हर कोण में प्रभुता को निहारने की कोशिश करे। तुम परमात्मा की प्रतिमा पर तो दूध का अभिषेक कर सकते हो, लेकिन किसी भूखे प्राणी को दो रोटी खिलाने से कतराओगे। भगवान की मूर्ति पर सोने के कलश से दूध चढ़ा दोगे पर किसी प्यासे को पानी पिलाने के लिए प्याऊ खोलने का इंतजाम नहीं करोगे। हमारी दृष्टि, हमारी कामनाएँ, भीतर की भावनाएँ इतनी संकुचित हो गई हैं, इतनी परम्पराग्रस्त हो गई हैं कि हमने परमात्मा का संबंध सिर्फ प्रतिमा से जोड़ दिया है।

निश्चित रूप से मंदिर का परमात्मा हमारी आराधना का केंद्र है, पूजा-प्रार्थना का आधार-स्थल है लेकिन अपनी प्रभुता को विराटता का रूप दो। अपनी दृष्टि को विस्तार दो। जब हम एक प्रतिमा को परमात्मा मान सकते हैं तो किसी जीवित प्राणी को परमात्मा क्यों नहीं मान सकते। इस जीवित प्रतिमा से ही कभी महावीर, बुद्ध, कृष्ण, ईसा, सुकरात, राम प्रकट हुए। आखिर सभी तीर्थंकर, पैगम्बर, अवतार इस मनुष्य की प्रतिमा से ही साकार हुए हैं।

हमें अपनी प्रभुता की भावना का विस्तार करना है। जब हम किसी बगीचे से गुजरते हैं और वहाँ फूल तोड़ने के लिए हाथ बढ़ाते हैं तो रुकिए और स्वयं में इस भाव को प्रवेश करने दीजिए कि इस पुष्प में भी परमात्मा की छवि है। इस भाव के आने से आप कभी निरर्थक फूल नहीं तोड़ पाएँगे। आपको लगेगा कि आप फूल तोड़कर परमात्मा के किसी एक रूप को कष्ट पहुँचा रहे हैं। जब किसी दीन-दुःखी को प्रताड़ित करते हैं, तो यह भाव पैदा कीजिए कि इसमें भी परमात्मा है। किसी को दगा देते हो, धोखेबाजी करते हो, किसी भी प्रकार की तकलीफ देते हो तब अन्तस् में यह भाव लाइए कि इसके अन्दर भी परमात्मा की आभा है, उसी का अस्तित्व है।

मंदिर में भी एक परमात्मा है और यह दूसरा परमात्मा है। हमारी प्रवृत्ति ऐसी हो गई है कि एक परमात्मा की तो दूध, पुष्प, केसर-चंदन से पूजा करते हैं और दूसरे को धोखा देते हैं, नीचा दिखाने की कोशिश करते हैं। अपनी दृष्टि को विराट बनाओ। यदि दृष्टि को विराट न किया तो जो नदी सागर में जाने से घबराती है वह विराट नहीं हो पाएगी। याद रखो, नदी सागर में जाकर खोती नहीं विराट हो जाती है। जो व्यक्ति सागर की ओर अपने कदम बढ़ा देता है, अपना अहं खोने को तैयार है, वही जीवन में सागर की उपलब्धि कर सकता है। जो अपने को मिटाने को तत्पर है, उसी की तकदीर में उपलब्धियाँ हैं।

जब नदी सागर की ओर यात्रा रोक देगी, तो वह डबरा बन जाएगी, गंदे पानी का तालाब बन जाएगी। उसके अस्तित्व की पहचान ही यही है कि नदी वह जो सागर में विलीन हो जाए। जो मनुष्य अपनी भावनाओं को सागर जैसी विराटता का रूप दे देता है वही अस्तित्व से कुछ उपलब्ध कर पाता है। जब तक बीज टूटेगा नहीं, कली उसमें से बाहर नहीं निकल पाएगी। हर बीज में वृक्ष होने की संभावना है, बशर्ते वह टूटने को, मिटने को तैयार हो। अन्यथा बीज के साथ ही सब संभावनाएँ नष्ट हो जाएँगी। बहुधा ऐसा होता है कि अनेकों बीज अपनी संभावनाओं के साथ ही समाप्त हो जाते हैं।

एक बीज को काँच की शीशी में बंद करके रख दो और एक को मिट्टी में दबा दो। उसे खाद-पानी देना शुरू कर दो। समय के गुजरने के साथ उसका परिणाम देखो। जो बीज शीशी में बंद था वह सूख गया, उसकी संभावनाएँ भी समाप्त हो गईं और जो अंकुरित होने को, मिटने को तैयार हो गया वह पौधा, पौधे से झाड़, झाड़ से विशाल वृक्ष बनकर खड़ा हो गया।

जब तक स्वयं का बीज फूटेगा नहीं, कभी अंकुरित नहीं हो पाएगा। हमारे साथ प्रायः यही होता है कि हमारा बीज हमारे साथ बंद ही वापस चला जाता है। चेतना के उस बीज का इस लोक में कोई रूपान्तरण या उपयोग नहीं हो पाता। हम बीज हैं, चेतना के बीज। जरूरत है उसके अंकुरण की, ऊर्ध्वारोहण की।

अपनी दृष्टि को विराटता दो 'घट-घट नूर ब्रह्म को धाम'। जिसने बूँद में पा लिया उसने सागरों में पा लिया। जिसने उसकी विराटता को पहचान लिया फिर मनुष्य में ही नहीं वृक्षों, पत्तों और चट्टानों में भी वही दिखाई देगा।

तलाश करो उस परम तत्त्व की अपने में ही; जो उसे बाहर खोजने निकलेगा चूकता रहेगा। बाहर में भी अनुभूति वही कर पायेगा जिसने भीतर में अनुभूति कर ली है। जिसे मधु की मिठास का अनुभव है वही व्यक्ति किसी दूसरे को मधु पीते देख अनुभव कर सकेगा कि इसे कैसा स्वाद आ रहा है। तुम्हें प्यास लगी, जल पी लिया, फिर जब कोई दूसरा प्यासा पानी पीयेगा तो तुम अनुभव कर सकोगे कि प्यासे को पानी पीने में कितनी सुखद अनुभूति हो रही है। जब तक अपने भीतर पहचान न बन पायी, तब तक दूसरे को देखकर कुछ भी पहचान नहीं कर पाओगे।

तो मैं एक बार फिर से दोहरा दूँ कि ब्रह्म से साक्षात्कार वे ही लोग कर पाएँगे जो सारे जहाँ में ढूँढ़कर अब चुप बैठ गये हैं। इस दुनिया में सब कुछ दौड़ने से, परिश्रम करने से मिला है पर परमात्मा.....! वह तो रुकने से ही मिल पाएगा। उसे तो मौन में, निजत्व में, चित्त की शांत अवस्था में ही पा सकोगे।

शिविर में आप लोगों के लिए मेरा प्रमुख संदेश यही है कि आप अपनी दृष्टि को विराट करने का प्रयत्न करें। आप प्रतिदिन सुबह प्रार्थना में गाते हैं 'मानव स्वयं एक मंदिर है।' इसे सामान्य कविता या प्रार्थना न समझें, यह गहरा सत्य है। अगर हमारी दृष्टि विराटता के सूत्र पकड़ ले तो धरती पर जितने मनुष्य हैं, सब चलते-फिरते मन्दिर हैं। पृथ्वी तीर्थ है। और मनुष्य की अन्तरात्मा में छिपी चेतना परमात्मा है। इसीलिए तो कहा गया है, परमात्मा सार्वभौम और सार्वकालिक है।

जीसस ने कहा, तोड़ो चाहे जिस पत्थर को तुम उसमें मुझे पाओगे, चाहे जिस पत्थर को उठा लो उसमें मुझे ही छिपा पाओगे। सर्वत्र वही है। पानी तो आखिर पानी है चाहे वह समुद्र में हो, नदी में हो, तालाब में हो। चाहे लहर हो या जल-बूँद दोनों में जल की उपस्थिति है। लेकिन हम आकार में उलझ जाते हैं। सागर का आकार विशाल है और गाँव का तालाब छोटा-सा। कैसे स्वीकार करें। दोनों एक हैं। कहाँ सागर, कहाँ घर का कुआँ। मेरे प्रिय आत्मन! आकार को देखकर भ्रांति पैदा मत करो। आकार में भले ही भेद हो, फिर भी दोनों आकारों में जो विराजमान है, वह निराकार है। इसलिए कुएँ में जो जल है और सागर में जो जल है- अलग-अलग नहीं है। यह यथार्थ का गणित है। इसे हर कोई नहीं समझ पाएगा। ईशावास्योपनिषद में कहा है, 'पूर्णात्पूर्णमुदुच्यते।' पूर्ण में से अगर पूर्ण निकाल लें तो भी पीछे पूर्ण ही बचेगा। यह पारलौकिक गणित है। इस गणित के जगत में बूँद और सागर बराबर है। विज्ञान के अनुसार 'एच टू ओ' उदजन और अक्षजन दो वस्तुएँ मिलकर जल बूँद बनती है। दो हिस्से 'एच' के एक हिस्सा 'ओ' का। सागर का भी तो यही राज है। सागर आखिर है क्या? असंख्य-अनन्त बूँदों का सम्मेलन है, अगर बूँद-बूँद को अलग कर दो तो सागर सागर नहीं रह पाएगा। जैसे आप लोग यहाँ बैठे हैं तो कहेंगे एक समाज बैठा है, पर आखिर यह समाज क्या है? व्यक्तियों का जोड़ बस। खोजने जाओगे तो समाज कहीं मिल नहीं पाएगा। जब भी मिलेगा, व्यक्ति मिलेगा।

व्यक्ति सत्य है, समाज तो केवल संज्ञा है। बूँद सत्य है, सागर तो केवल संज्ञा है। सागर, सरोवर, सरिता सब में पानी एक है, बड़ी से बड़ी लहर हो या एक जल-बूँद कोई फ़र्क नहीं, सबका स्वभाव एक है। परमात्मा भी सर्वत्र है वहाँ भी, यहाँ भी, मुझमें भी, आपमें भी।

ध्यान का कार्य जीवन में उस बीज का प्रस्फुटन करना है कि वह अपनी विराटता धारण कर सके। हमारी धारणाएँ, भावनाएँ इतनी संकुचित हैं कि चाहते हुए भी वह बीज फूट नहीं पाता। हर इंसान के भीतर परमात्मा का बीज छिपा हुआ है, पर मनुष्य न तो उस बीज को पहचान पाता है और न उसमें से परमात्मा-स्वरूप को अंकुरित कर पाता है। वह बीज सोया ही रह जाता है और आखिर हमारा धरती से प्रयाण हो

जाता है। ध्यान कोई शब्द नहीं है। यह अस्तित्व में रमण करने के लिए है। यदि हम केवल शब्दों में उलझ गए, शब्दों का ही रटन करते रह गए तो ध्यान हमारे जीवन का रूपान्तरण नहीं कर पाएगा, जीवन को बदल नहीं पाएगा। मात्र शब्दकोश की महिमा बनकर रह जाएगा।

देखिये, शब्दकोश में 'घोड़ा' होता है और अस्तबल में भी एक घोड़ा होता है। शब्दकोश का घोड़ा घोड़े की स्मृति तो दिला देगा पर उसे साकार नहीं कर सकेगा। भारत का नक्शा तुम्हें अनेक जानकारियाँ दे सकता है पर भारत को दिखा नहीं सकता। किसी ने तुम्हारे हाथ में हिमालय का नक्शा दे दिया। तुम उसे सुबह से साँझ तक देखते रहे। वह तुम्हें बता देगा कि यहाँ बद्रीनाथ है, वहाँ केदारनाथ है, यहाँ गंगोत्री है, वहाँ फूलों की घाटी है, यहाँ यमुनोत्री है, वहाँ टिहरी-डैम है, सारी जानकारियाँ दे देगा, लेकिन हिमालय का आनन्द नहीं दे पाएगा। ठंडी हवाएँ, सुरम्य वातावरण, प्रकृति का सौंदर्य इनसे तो वंचित ही रहे।

नक्शे या किताबें हमें जानकारियाँ भर दे सकते हैं। ध्यान का उपयोग अगर जानकारी तक ही रखा, प्रवचनों और शास्त्रों तक ही सीमित रहा, तो अनंत संभावनाओं वाला बीज दबा-का-दबा रह जाएगा।

कल एक महानुभाव कहने लगे, 'जब आप कहते हैं कि ध्यान से मनुष्य को शांति मिलती है, तो सारी दुनिया ध्यान को क्यों नहीं अपना लेती।'

यह प्रश्न नहीं, तर्क है। अब तुम स्वयं ईमानदारी से सोचो, तुम्हारे भीतर कहीं शांति की तलाश है? भगवान बुद्ध के पास भी एक युवक पहुँचा और बोला, 'आप तीस वर्ष से धर्म का उपदेश दे रहे हैं। मैं आपसे जानना चाहता हूँ कि इस धर्मोपदेश से कितने हजार या कितने लाख लोगों ने शांति उपलब्ध की। अगर आपके उपदेश से किसी ने शांति पाई तो मैं भी पाऊँ।' बुद्ध मुस्कराए और कहा, 'तुम शहर में जाओ और अपने मित्रों, परिजनों, परिचितों से पूछो कि वे जीवन में क्या चाहते हैं।' युवक ने कहा, 'मुझे कोई दिक्कत नहीं है अगर आप इसका लेखा-जोखा पाना चाहते हैं।' युवक गया। अपने सभी रिश्तेदारों, मित्रों, परिचितों के पास गया और एक-एक से पूछा, तुम जीवन में क्या चाहते हो। जिसने जो बताया, लिखता चला गया। साँझ होते-होते वह लगभग दो सौ लोगों से पूछ चुका था। अन्ततः जब उसने सूची को निहारा तो पाया कि कोई धन को चाहता है, किसी को पुत्र की कामना है, कोई मकान बनवाना चाहता है, किसी की दुकान की लालसा है, कोई गृहलक्ष्मी की आशा में है, पता नहीं कितनी-कितनी कामनाएँ थीं। युवक चकराया, इस सूची में किसी ने भी यह नहीं कहा था कि उसे शांति की तलाश है। अन्त में युवक बुद्ध के पास गया और

कहा, ' भगवन्! क्षमा कीजिए। मैं इतने लोगों के पास गया पर किसी ने नहीं कहा कि उसे शांति की तलाश है, मुक्ति की कामना है। सबकी अपनी-अपनी इच्छाएँ-लालसाएँ हैं।' बुद्ध मुस्कराए और कहने लगे, 'मैं यही कहना चाहता हूँ। जब तक मनुष्य के जीवन में परिपक्व तलाश नहीं होगी, परिपक्व चाह नहीं होगी, वह इसकी पूर्ति की ओर नहीं आ पाएगा।' ध्यान से शांति मिलती है, निश्चय ही, पर पहले यह तय कर लो कि तुम्हें वास्तव में शांति की तलाश है।

मेरे पास लोग आते हैं और यही कहते हैं कि मेरी दुकान नहीं चलती है, धंधा मंदा चल रहा है। महिलाएँ कहती हैं मेरा पति से झगड़ा चल रहा है, अमुक सामान खो गया, अमुक चोरी हो गई, बीस तरह की समस्याएँ। कुछ दिन पहले की बात है, एक सज्जन कहने लगे जब से मैंने आपके पास आना शुरू किया है तब से मेरी दुकान बहुत अच्छी चलने लग गई। मैंने कहा, 'मैं दुकानदार नहीं हूँ, जो दुकान चलाऊँ। मैं तो उसे खोलने की बात कह रहा हूँ, जो भीतर कहीं रुका-रूँधा पड़ा है।'

जिन्हें जीवन में वास्तविक शांति की तलाश है ध्यान उनके जीवन में निश्चित ही शांति की रोशनी सिद्ध होगा।

अभी तक तो हम शांति-अशांति के अन्तर्द्वन्द्व में ही झूलते रहे हैं। कभी तुम वैराग्य को छूते हो, कभी राग में डूब जाते हो; कभी क्रोध करते हो, कभी तुम क्षमा में चले जाते हो। यह मन की दुविधा है। जब तक अडोल, अकंप नहीं बनोगे प्रगति नहीं हो पाएगी। अचल, निष्कंप नहीं रहोगे तो चेतना का दीप सदाबहार रोशनी नहीं दे पाएगा।

आपने कभी 'मरघटी वैराग्य' सुना है? किसी की मृत्यु हो गई और उसे जलाने के लिए श्मशान घाट में पहुँचे। वहाँ कुछ देर के लिए हमारे मन में वैराग्य के भाव जग जाते हैं। जलती चिता को देखकर हमारे भीतर वैराग्य के भाव पैदा होंगे कि यह क्या संसार है? लेकिन जैसे ही श्मशान से बाहर आओगे, मित्रों के बीच बैठोगे, वही गर्प्ये और खाना-पीना शुरू हो जाएगा। कहाँ गया वैराग्य! कैसे उमड़ा था और क्या उसकी गति हुई। थोड़ी देर पहले तो संसार से स्वयं को हटाना चाहते थे और अब वापस संसार में लौट आए। सभी वही प्रवृत्तियाँ।

प्रवृत्तियाँ भी कैसी। किसी घर में मृत्यु हो जाती है। शोक मनाते हो। कहते हो अभी हम मंदिर नहीं जाएँगे। क्योंकि हमारे भाई का देहावसान हो गया है। दो माह तक शोक रखना पड़ेगा न। अब उनसे पूछो तुम्हारे यहाँ शोक केवल सामायिक, प्रतिक्रमण, पूजा, आराधना इसी में आकर जुड़ा है। या जो महिला अपने पति के स्वर्गवास के छः माह बाद भी मंदिर आने को तैयार नहीं है, उससे पूछो, क्या तुम

कभी ठंडी चाय पीती हो? जितनी भी आवश्यकताएँ हैं, यहाँ तक कि विलासिताओं की भी पूर्ति करते हो फिर वैराग्य कहाँ रहा? सारी वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ वैसी-की-वैसी रहती हैं और व्यक्ति वैराग्य के ताव में आकर अगर कुछ छोड़ता है तो एकमात्र धर्म-अध्यात्म के मार्ग को।

जिनके घरों में किसी की मृत्यु हो जाए, उन्हें वैराग्य के भाव को जीना चाहिए। यह सोचना चाहिए कि इनकी मृत्यु मेरे जीवन में भी मृत्यु का संदेश है। दूसरे की मृत्यु हमें जाग्रत करती है। शहर का श्मशान या कब्रिस्तान कहीं बनाना हो तो शहर के बीचों-बीच चौराहे पर बनाओ ताकि वहाँ से गुजरता हुआ हर इंसान अपने जीवन के वास्तविक स्वरूप को देख सके कि यह जीवन पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर है। ये आती-जाती साँसें कब खत्म हो जाएँ, पता नहीं। जीवन में जितनी भी दुर्घटनाएँ घट रही हैं हमें जीवन का ही संदेश दे रही हैं। पड़ोसी की मृत्यु हमें जागरूक होने की प्रेरणा दे रही है। पत्नी की मृत्यु अपनी ही मृत्यु का संदेश समझो। लोगों की स्थिति तो यह है कि अभी पत्नी को मेरे एक माह भी नहीं बीता और व्यक्ति दूसरी पत्नी की तलाश शुरू कर देता है। कहाँ है वैराग्य। जिस पत्नी के साथ बीस वर्ष रहे, साथ जीने-मरने की कसमें खाईं, सब लुप्त हो गयीं। हमारी तृष्णा और वासना ने हम पर विजय प्राप्त कर ली है।

अभी कुछ दिन पूर्व समाचार-पत्र पढ़ते हुए वर-वधू के कॉलम पर नज़र चली गई। पढ़ा, एक सत्तर वर्ष के व्यक्ति (सिर्फ सत्तर वर्ष) के लिए कन्या की तलाश है। उस व्यक्ति से पूछो, क्या जीवन भर वधुओं की तलाश ही करते रहोगे या अपनी भी कुछ तलाश करोगे? एक मरी, दूसरी ले आए, दूसरी के बाद तीसरी, तीसरी के बाद चौथी। खुद मरोगे तो किसे लाओगे? आखिर हमारी वृत्तियों की तृप्ति कब आएगी। हमारी वासनाएँ, तृष्णाएँ, लालसाएँ कब मर पाएँगी? पच्चीस वर्ष का युवक जब दोबारा विवाह करने को तत्पर होता है तो बात कुछ जमती है। साठ वर्ष का बूढ़ा भी जब चौथा विवाह करने को तैयार होता है तो मन में ग्लानि होती है कि क्या मनुष्य इतना गिर गया है?

कल कुछ युवकों के बीच ऐसी ही चर्चा चल रही थी, एक ने कहा, साहब! एक सत्तर वर्ष का वृद्ध लखनऊ की किसी नुमाइश में गया। लोग वहाँ काफी शान-शौकत से सज-धजकर आये थे। एक सुंदर महिला को देखकर वृद्ध से न रह गया। वह उसके पीछे हो गया। जब मौका मिले धक्का मारे, च्यूटी ले।

आखिर उस महिला से न रहा गया। उसने उससे कहा, 'अरे बुढ़ऊ शरम नहीं आती? बाल सफेद हो गये, जवान स्त्रियों को धक्के मारते हो।'

वह वृद्ध मुस्कराया, कहा, 'अच्छा! अब तूने पूछ ही लिया है तो तुमसे क्या छिपाना। बाल भले ही सफेद हो गये हों पर दिल तो अभी भी..... काला है।'

बात उस वृद्ध ने पते की कही। लोग अस्सी-नब्बे साल के हो जाते हैं फिर भी दिल.....। बस, अब पूछो मत।

मुझे याद है हम लोग तमिलनाडु की यात्रा पर थे। होली के दूसरे दिन एक व्यक्ति के निवास पर हमारे प्रवचन का कार्यक्रम था। संयोगवशात् बड़े महाराजश्री ने सब लोगों के बीच उस दम्पति को अपने पास बुलाया और कहा, 'तुम्हारे घर संत लोग आए हैं ऐसा करो पाँच तिथियों के लिए 'चौथ व्रत' (ब्रह्मचर्य) का नियम ले लो।' पत्नी तो शीघ्र तैयार हो गई। बड़े महाराजश्री ने पति की ओर देखा, उसने कहा, 'महाराजजी, इसी को नियम दिला दो, मैं तो लेने वाला नहीं।' यानी यह तो नियम पाल लेगी, तुम कहाँ जाओगे।

ये भीतर की तृष्णाएँ और वृत्तियाँ आखिर कब तक चलती रहेंगी? तुम्हारे बाल सफेद हो गए हैं, जीवन-संध्या करीब है फिर भी हमें परमात्मा की कोई खबर नहीं है। उसका बीज अंदर ही अंदर सड़-गल-सूख रहा है। उसका कोई उपयोग नहीं हो रहा है। बरगद की संभावनाएँ नष्ट हो रही हैं। सोचो, उस बीज का उपयोग कब करोगे? मेरा ध्येय है हम अपने जीवन में उस बीज का बोध प्राप्त कर लें। परमात्मा की आभा को अपने अन्दर प्रगट कर लें। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति उस बोध को उपलब्ध होने की आकांक्षा रखे।

मनुष्य ने अपने राग के दायरे इतने विस्तृत कर रखे हैं कि वह अकेला होना ही नहीं चाहता। और जब तक तुम अकेले नहीं हो जाओगे, अपने बीज को पहचान नहीं पाओगे। अकेले होते ही अंकुरण शुरू हो जाता है। लेकिन अकेलापन सहन नहीं होता। जब तुम घर में अकेले होते हो, टी.वी. चला लेते हो, रेडियो सुनने लगते हो और कुछ नहीं तो नए-नए काम निकाल लेते हो, क्योंकि अकेले नहीं हो सकते। तुम अकेलेपन से ऊबने लगते हो, कुछ करना चाहते हो। हमारी यही वृत्ति बाधक बन जाती है। हमारी बेहोशी हमें जगने नहीं देती। जैसे ही कभी अकेलापन आता है, हम तुरन्त सचेत हो जाते हैं, अकेलापन हमें खलने लगता है। कुछ न कुछ ऐसा करना शुरू कर देते हैं कि स्वयं को व्यस्त रख सकें। यदि तुम अकेले हो तो स्वयं की तलाश शुरू करो। जीवन के बहुमूल्य समय को व्यर्थ मत गँवाओ।

रेडियो चला रहे हो, गीत सुन रहे हो। काश! उन परम शांति के क्षणों में हम अपने अस्तित्व की तलाश शुरू कर पाते। अकेलापन तो हमारे जीवन का अहोभाग्य होना चाहिए। जब मनुष्य किसी शांत, एकान्त, निर्जन स्थान पर बैठकर स्वयं में

डुबकी लगा सके, अपने अस्तित्व की पहचान कर सके। उस परमतत्त्व की आभा से स्वयं को सराबोर कर सके।

दो परम्पराएँ हैं एक है जैन और दूसरी हिन्दू। अध्यात्म की दृष्टि से जैन अकेलेपन में विश्वास करते हैं। जितने फैल चुके हो उन्हें संकुचित करो और वैदिक परंपरा संकुचित को अधिक फैलाना चाहती है। ऋग्वेद का सूत्र है : 'एकोऽहं बहुस्याम।' मैं एक हूँ और बहुत में समा जाऊँ। वहाँ ब्रह्मा अपनी विराटता दिखाता है, स्वयं को सम्पूर्ण अस्तित्व में फैलाने की कोशिश करता है। लेकिन यहाँ उल्टी प्रक्रिया है। आप चाहते हैं न, जब तक महावीर मुनि नहीं बने थे, उनका नाम था वर्धमान अर्थात् जो विस्तार दे रहा है, फैल रहा है, फैला रहा है। महावीर ने पाया कि अगर स्वयं को, स्वयं की वृत्तियों को फैलाता चला गया तो स्वयं को उपलब्ध नहीं हो पाऊँगा। मुनि-जीवन में उनका नाम हुआ महावीर, निर्ग्रन्थ नाम हुआ। वर्धमान फैलने का रूप है, महावीर स्वयं में लौटने का रूप है।

अपने जीवन की शांति को स्वयं में तलाश करना है। इस शांति के लिए अगर आप जंगल में हैं तो भी ठीक है और अगर घर में, परिवार के बीच हैं तब भी कोई परेशानी नहीं। आपका जीवन हर घड़ी, हल पल शांति दे सकता है। बशर्ते अन्तर में शांति की आकांक्षा हो। हमें शांति की प्यास होगी तो ध्यान निश्चित ही शांति देगा। जब भी वह अकेला होगा शांति को उपलब्ध होगा।

कल एक महानुभाव कह रहे थे कि 'आपके ध्यान का मुझ पर गहरा रंग चढ़ गया है। इच्छा होती है सब कुछ छोड़कर आपके साथ हो जाऊँ, पर पत्नी.....। शायद वह तैयार नहीं होगी।' मेरे प्रभु, नाहक इतनी जल्दी यह कोशिश क्यों कर रहे हो। इस मार्ग पर क्रदम भी बड़ी सावधानी से बढ़ाना होगा। वेश का संन्यासी बनने के लिए पत्नी इंकार कर जाये, पर जीवन के संन्यासी, इसमें उसे कहाँ बाधा होगी। मैं तो कहूँगा कि पहले ध्यान को थोड़ा और गहरा उतरने दो। घर की एक नई हवा बनाओ, एक नया वातावरण तैयार करो और कोशिश करो कि हमारा ध्यान, प्रेम और शांति निरंतर बढ़ती रहे। संभव है, संन्यस्त नहीं हो पाने के कारण आप संसार को न छोड़ पायें, लेकिन ध्यान आपके जीवन को ऐसा रूपान्तरित कर देगा कि आप संसार में भी जग जायेंगे। मुक्ति-पथ के पथिक हो जाएँगे।

अभी आपके लिये यह उचित रहेगा कि आप ध्यान में उतरना शुरू कर दें। शायद इसके लिये किसी की आज्ञा की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। ध्यान तो तब भी कर सकते हो, जब सारा परिवार सो जाये, किसी को पता भी नहीं चले। दुनिया की नज़रों में तुम संसार में रहोगे, लेकिन ध्यान तुम्हारे जीवन में, संसार में भी संन्यास घटित कर देगा।

भगवान महावीर के जीवन में एक प्यारा उल्लेख है। कहते हैं, महावीर ने संकल्प लिया था कि माता-पिता के रहते मैं साधु नहीं बनूँगा, और जब माता-पिता का देहावसान हो गया, तो महावीर ने अपने बड़े भाई नन्दीवर्धन से कहा कि आज्ञा दे दें प्रब्रज्या की। मैं तो बस माँ की वज्रह से रुका था।

नन्दीवर्धन ने कहा, 'गजब की बात करते हो। अभी-अभी तो माँ का देहावसान हुआ है, एक पहाड़ टूट कर हमारी छाती पर गिरा है, अब तुम दूसरा गिराना चाहते हो। अभी नहीं जब मैं कहूँ तब लेना।'

महावीर फिर रुक गये और दो वर्ष में तो भाई ने भी आज्ञा दे दी। क्योंकि दो वर्ष महावीर घर में रहे और इस अवधि में ध्यान में इतने गहरे उतर गये, ऐसे मौन हो गये कि उनकी उपस्थिति घर में न के बराबर हो गई। लोग गुज़र जाते, उन्हें पता ही नहीं चलता। वे स्वयं गुज़र जाते, लोगों को पता नहीं चलता। आखिर भाई नन्दीवर्धन को लगा कि महावीर को अब रोकना व्यर्थ है। अब सिर्फ शरीर रुका है, चेतना तो चैतन्य-धरा से जुड़ी है। और अन्ततः खुद बड़े भाई को कहना पड़ा - अब मैं नहीं रोऊँगा, जैसा अच्छा लगे वैसा करो।

मनुष्य इस संसार में एक परदेशी है। किसी का कोई घर नहीं है, सब बेघर हैं और कोई संभावना भी नहीं है कि कोई घर बन सके। थोड़े दिन के लिए हम भले ही धोखा खा लें, अपने मन को राहत दे दें। लेकिन आज यह जो भी घर दिखाई दे रहे हैं, आज नहीं तो कल उजड़ेंगे। एक दिन तो सबका इस दुनिया से डेरा उठना है। आखिर, मौत से बचने का उपाय कहाँ है मनुष्य के पास।

कौन है इस दुनिया में, जिसे तुम अपना कह सकते हो। अभी तक तो हम भी अपने नहीं हैं। दूसरों को अपना मानने की भूल क्यों कर रहे हो। यह मन भी अपना नहीं है। यह शरीर भी अपना नहीं है। यह मिट्टी का है और वक्त आने पर मिट्टी में ही समाने वाला है।

कमरे की कब्र में कम्बल का कफ़न ओढ़े हुए,
खुले दरवाज़ों से बाहर की तरफ ताकता रहा,
मेरी आवाज़ भी जैसे मेरी आवाज़ न थी,
भरे बाज़ार में तनहा भी था, हैरान भी था।

मेरे प्रभु! अब अपने असली घर को याद करो, कहाँ से आये हो और कौन हो। ढूँढ़ो इसे, अपने अन्तर में। बिना इसे जाने कोई भी आनन्द और धन्यता को उपलब्ध नहीं हो पाया है। अगर इसे न पहचान पाये तो जीवन में जो कुछ भी होगा सिवा प्रवंचना के और कुछ नहीं होगा।

इस सत्य को कभी मत भूलना कि इस दुनिया में स्वयं को छोड़कर कुछ भी शाश्वत नहीं है। एक मात्र आत्मा ही ऐसा तत्त्व है, जिसकी शाश्वतता पर संदेह नहीं हो सकता। जो आत्मा में उतर गया, भीतर के सागर में डुबकी लगा ली, उसे तो स्वतः ही परमात्मा की उपलब्धि हो गयी। आत्मा में डुबकी लगाने का नाम ध्यान है और जब डुबकी लग जाये, तो उसका नाम समाधि है। ध्यान अभ्यास है और समाधि अभ्यास की पूर्णाहुति है। जो अन्तर में उतर गया, उसे अनुभूति हो गई 'मैं' हूँ और यही मैं सबके अन्दर व्याप्त है। इसलिए पहला प्रयास यह करो कि स्वयं की चेतना पर जितने सन्देह के पर्दे डाले हुए हैं, उन्हें उघाड़ने का प्रयत्न करो। फिर तो तुम्हारे संसार के पिंजरे अपने आप छूट जायेंगे। भले ही वे पिंजरे सोने के हों, लेकिन मुक्त गगन के पंखी के लिए तो बंधन ही है। मेरे प्रभु! उड़ान भरो-मुक्त गगन में। जिसे एक बार पंख फड़फड़ाने का मजा आ गया फिर तो लाख उपाय कर लो तो भी रोक नहीं पाओगे। भला उसे स्वर्ण-पिंजर भी लालायित कैसे कर पायेगा, जिसने अपना पथ मुक्त-गगन को बना लिया है। भले ही पिंजरा हीरे-जवाहरातों से जड़ा हुआ हो, लेकिन उसके बावजूद अन्ततः आनन्द और जीवन-मुक्ति पिंजरे, संसार में नहीं, मुक्त गगन में ही है।

तुम रखो स्वर्ण-पिंजर अपना, अब मेरा पथ तो मुक्त गगन।
गत युग की याद दिलाते हो, था दुर्ग तुम्हारा वह उन्नत,
प्रसाद दुर्ग में वृहत् और उसमें वह पिंजर स्वर्णवृत्त।
अरमान विकल थे यौवन के, तन बंदी था, मन था उन्मन!
तुम रखो स्वर्ण-पिंजर अपना, अब मेरा पथ तो मुक्त गगन!
बंधन में फँसने के पहले यह सत्य जान मैं था पाया
नभ छाया है इस धरती की, धरती है इस नभ की छाया,
दोनों की गोद खुली, चाहे मैं नभ में मुक्त उड़ान भरूँ,
चाहे धरती पर उतर, तृणों, रजकणों आदि को प्यार करूँ,
अपना विभ्रम, अपना प्रसाद, बँध गया एक दिन बंधन में।
वे दिन भी काट लिये मैंने, छल को पहचाना जीवन में
अब तोड़ चुका हूँ, मैं बंधन कैसे विश्वास करूँ तुम पर?
तुम मुझे बुलाते हो भीतर, मैं तुम्हें बुलाता हूँ बाहर!
देखो तो स्वाद मुक्ति का क्या, कैसा लगता है स्वैर पवन!
तुम रखो स्वर्ण-पिंजर अपना, अब मेरा पथ तो मुक्त-गगन।
फिर सबके पास लौट आया, अब धरती मेरी, नभ मेरा।

रजकण मेरे, द्रुमकण मेरे, पर्वत मेरे, सौरभ मेरा!
वह सब मेरा, जो मुक्ति मधुर, वह रहा तुम्हारा, जो बंधन!
तुम रखो स्वर्ण-पिंजर अपना, अब मेरा पथ तो मुक्त गगन!

मेरे प्रभु, अगर चाहो तो तुम्हारे साथ ऐसा हो सकता है। बस, परिवार में रहते हुए भी एक समझ पकड़ लो, बोध पकड़ लो। ध्यान का दीया जला लो, अगर ऐसा होता है तो परिवार के बीच रहते हुए भी तुम्हारे भीतर घटित होने वाला एकाकीपन तुम्हें जिनत्व की उपलब्धि करवा देगा। फिर आपके जीवन का अँधेरा भी उजाला हो जायेगा। रात भी दिन और मृत्यु भी अमृत हो जायेगी, और अभी तो ध्यान में सिर्फ तुम्हारी आँखें भीगती हैं, फिर आत्मा भी भीग जायेगी। आनन्द आपके पोर-पोर में समा जायेगा।

अकेलेपन का दुरुपयोग और सदुपयोग दोनों किए जा सकते हैं। अकेलेपन से घबराकर व्यक्ति या तो पागल हो जायेगा या उसमें डूबकर समाधि को उपलब्ध हो जाएगा। किसी व्यक्ति को तीन माह के लिए कमरे में बंद कर दो। सिर्फ भोजन-पानी देते रहो। अगर उसमें अन्तर्दृष्टि नहीं है, तो वह पागल हो जाएगा और भावदृष्टि जगी हुई है, तो समाधि को उपलब्ध हो जाएगा। यह हम पर निर्भर है कि हम इस अकेलेपन का कैसे उपयोग करते हैं। प्रायः जीवन में अकेलापन बेहोशी ही देता है। यह तो किसी-किसी का सौभाग्य होगा कि दुनियादारी की उलझनों से निकलकर एकांतवास में स्वयं को साक्षात्कार कर सके। संत हिमालय की गुफाओं में इस अकेलेपन को पाने के लिए ही वास करते हैं। जो परमात्मा यहाँ है वही हिमालय की गुफाओं में भी है, लेकिन वहाँ पहुँचकर व्यक्ति बाह्य वातावरण से दूर रहकर स्वयं में जाने का प्रयास करता है। यह एकाकीपन प्रज्ञावान व्यक्ति के जीवन के रूपान्तरण में सहायक होता है। उसके जीवन में समाधि के द्वार खोल देता है। उसके जीवन में प्रेक्षा, विपश्यना और साक्षीभाव की उपलब्धि कर देता है।

आप प्रतिदिन ध्यान में डूब सकते हैं, बशर्ते एकाकीपन में मिलने वाले प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करें। जब भी अकेले हों, अकेलेपन का आनन्द उठाएँ। उतरें, भीतर उतरें – गहरे और गहरे। स्वयं का विस्मरण ही मनुष्य के भव-भ्रमण का कारण है। अपने को भूल जाने के कारण ही 'आप' भटक रहा है। आप यानी अप्पा। आप यानी आत्मा। आप यानी हम। आप जब आप में उतरा है, आत्मा आत्मा में उतरी है, तो आप अपने आप उपलब्ध हो जाता है, 'आपोआप' मिल जाय – अपने आप मिल जाता है। आँखों में उतर आता है नूर आत्मा का, अपने आपका, परमात्मा का, निजत्व का।





भीतर की चाँदनी

तमिलनाडु की यात्रा में, मैं एक परिवार में ठहरा हुआ था। वहाँ घर के बाहर एक पिंजरे में एक प्यारा-सा पक्षी था। मैंने देखा कि वह पिंजरा लोहे की सलाखों का न था, अपितु उसके चारों ओर काँच की दीवारें थीं। मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। मैंने सोचा ऐसा कौन-सा कारण है जिसके चलते पिंजरा लोहे की सींखचों का न होकर काँच की दीवारों से घिरा हुआ है। पक्षी पिंजरे में कैद, पर पारदर्शी आवरण में उसे बाहर का सारा दृश्य दिखाई दे रहा है। शुरू-शुरू में तो पक्षी ने काँच पर चोंच से चोट भी मारी होगी, पंख भी फड़फड़ाए होंगे, बाहर निकलने की कोशिश भी की होगी, पर धीरे-धीरे उसने जाना होगा कि मेरा आकाश बस इतना ही है। चोंच से चोट भी बंद कर दी, पंख भी समेट लिए, उड़ने की चेष्टा भी रोक दी और उसी काँच के पिंजरे में वह पक्षी आराम से जीने लगा। धीरे-धीरे तो उसे पंखों के उपयोग का भी ज्ञान न रहा। उसे लगा उसका सुख इसी पिंजरे के संसार में है। वह बाहर का विश्व देख रहा था, फिर भी उसे लगा उसका संपूर्ण अस्तित्व इसी पिंजरे में है।

मनुष्य की भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। एक पारदर्शी काँच में मनुष्य जकड़ गया है। जहाँ से वह बाहर के अस्तित्व को देख तो रहा है लेकिन इस पारदर्शी पिंजरे से बाहर निकलना मुश्किल हो गया है। मनुष्य अपने ही मनोविकल्प में इतना जकड़ गया है, इस कदर कैद हो गया है कि मुक्त होना और मुक्ति का रसास्वाद करना उसके लिए दुर्लभ बन गया है। यही कारण है कि आज हर व्यक्ति चाहे वह पढ़ा-

लिखा है या अनपढ़, एक विशेष प्रकार के तनाव में जी रहा है। ऊहापोह भरे विचारों में विचरते हुए अव्यक्त तनाव से घिरा हुआ है।

माना कि विचार करना मनुष्य के लिए आवश्यक है तब इस सत्य को स्वीकार कर लेना चाहिए कि निर्विचार होना भी मनुष्य के लिए आवश्यक है। वह जीवन भर, वर्ष, माह, दिन, हर घड़ी विचार-प्रवाह में ही बहता रहा तो निश्चित ही पागल हो जाएगा। लेकिन प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था कर रखी है। कि आपको विश्राम करना ही होता है। सारी रात आप मीठी नींद में गुजार देते हैं, तब कोई विचार नहीं होते फिर सुबह आप तरोताजा उठते हैं। तीन दिन, केवल तीन दिन आप चौबीस घंटे में झपकी भी मत लीजिए, फिर देखिए आपकी क्या दशा होती है। आप चिड़चिड़े हो जाएँगे, अनावश्यक क्रोध घरेगा, आलस्य चढ़ेगा, झुँझलाहट होगी, और यह सब न सोने का परिणाम है। अनिद्रा के रोगी को देखा है? हर समय विकल्पों की श्रृंखला आपको बेचैन कर देगी, अधिक समय तक आपको सामान्य न रहने देगी। आप उचटे से हो जाएँगे।

व्यक्ति पागल क्यों होता है? विचारों का आधिक्य उसे अपने आप में नहीं रहने देता। अपनी क्षमता से अधिक वह विचार करने लगता है। मस्तिष्क के कोषों की जितनी विचार करने की क्षमता थी उससे अधिक जब वह विचार करने लगा और वे कोष क्षीण होने लगे तो अन्ततः पागलपन/उचाटपन उतरने लगा। नब्बे फीसदी लोग चौबीस घंटे व्यक्त-अव्यक्त विचारों में खोये रहते हैं। उनके मस्तिष्क में उथल-पुथल मची रहती है। यह नहीं कि वे कोई सार्थक चिंतन कर रहे हैं बल्कि उनका सिर ऐसा कूड़ादान बन गया है जिसमें अनर्गल विचारों का आलोड़न होता रहता है। परिणाम यह होता है कि उनके दिमाग में विधायक विचार आ नहीं पाता। उनकी विचार करने की क्षमता क्षीण हो जाती है।

माना कि सत्य के अनुचिंतन के लिए विचार आवश्यक है लेकिन ध्यान रहे सत्य की उपलब्धि के लिए निर्विचार होना उससे भी अधिक आवश्यक है। आप भवन में आने के लिए सीढ़ियों का उपयोग कर रहे हैं, ठीक है लेकिन भवन में प्रवेश करने के लिए सीढ़ियों को छोड़ना भी आवश्यक है। अगर हम यह सोचें कि जिन सीढ़ियों ने मुझे मंदिर तक पहुँचाया है उन्हें कैसे छोड़ूँ तो भगवान की सूरत के दर्शन कैसे कर सकोगे। जिस स्कूटर ने तुम्हें दूकान से घर तक पहुँचाया और तुम उसे न छोड़ो, उसका आभार ही मानते रहो तो घर के अन्दर नहीं पहुँच पाओगे। माना कि नदी को पार करने के लिए नौका की आवश्यकता है लेकिन तट पर पहुँचकर नौका को छोड़ना भी आवश्यक है तभी तो किनारे लग सकोगे। मैं आप लोगों से कहना चाहता

हूँ कि ध्यान में गहराई के लिए विचार और वह मन जिससे विचार उठ रहे हैं, उसे मौन हो जाने दें। मुक्ति के लिए मनोमौन ज़रूरी है।

अगर दिन में आठ घंटे विचारों से घिरे रहते हो तो अस्सी मिनट निर्विचार हो रहो। यह भी न हो सके तो आठ मिनट से शुरू करो। तुम देखोगे निरन्तर चलते विचार जो आनन्द न दे सके, शांत होकर बैठने पर अनुपम आनन्द का अनुभव होने लगेगा। अगर कोई चौबीस घंटे सोया रहे तो नींद का आनन्द ले पाएगा? कोई आराम अनुभव करेगा? अगर नींद का, शारीरिक आराम का सुख पाना है तो ज़रूरी है तुम जगो। सुस्ती को तोड़ो भी, स्फूर्ति में आओ भी।

दो तरह के मनुष्य हैं, एक विचार करने वाला और दूसरा विश्वास करने वाला। लेकिन जिसने सिर्फ विचार किया वह भी कुछ न पा सका और जिसने बगैर जाने-विचारे विश्वास किया वह भी अधूरा ही रहा। बिना विचारे अगर तुम विश्वास में जीने लग गए तो तुम्हारा जीवन अन्ध-विश्वास का अनुगामी हो जाएगा। और जो सिर्फ विचारों में जीते हैं वे विचारों का आविष्कार तो कर लेते हैं पर जीवन के आविष्कार से वंचित रह जाते हैं। जीवन सुख-शांति-संतोष से खाली हो जाता है। आप जानते हैं अमेरिका में सबसे ज्यादा मनोचिकित्सक पाए जाते हैं, क्यों? क्योंकि वहाँ का मनुष्य सबसे अधिक विचार करता है। दिन-रात, सोते-जागते, उठते-बैठते एक ही प्रक्रिया चल रही है विचारों की। परिणामतः उसकी नींद हराम हो गई। अनुसंधानों से पता चला है कि न्यूयार्क की तीस फीसदी जनता बिना नींद की गोली लिए सो नहीं पाती। एक समय ऐसी स्थिति भी आ सकती है कि सौ फीसदी लोगों को नींद की गोली लेनी पड़े क्योंकि विचारों का अन्तर्द्वंद्व तेजी से बढ़ रहा है। स्वयं को निर्विचार करने की, शांत रहने की क्षमता उनके हाथ से निकल गई है। ध्यान निर्विचार होने का, शान्त मनस् होने का उपक्रम है।

मनुष्य का मस्तिष्क विचारों से बोझिल होता जा रहा है, विश्वास के द्वारा अन्धविश्वास में जकड़ रहा है। परिणामस्वरूप नब्बे प्रतिशत लोग तनाव में जी रहे हैं। भीतर-ही-भीतर अशान्त वातावरण के साथ जी रहे हैं। मेरा तो मत है कि हमारी आज की शिक्षा पद्धति को बदला जाना चाहिए। उसमें ध्यान का समावेश होना चाहिए ताकि व्यक्ति जो विचार उपार्जित करे उनसे मुक्त होने का उपाय भी सीख सके। तुम जहाँ हो वहीं पूरी तरह हो सको यह कला जाने सको। नहीं तो तुम डॉक्टर बन गए और जब रसोई में गए तो मरीजों का ख्याल लेकर जाओगे, भोजन में पूरा रस न ले पाओगे और जब क्लीनिक गए तो भोजन के स्वाद के बारे में विचार करोगे, ऐसे में मरीज का क्या हाल होगा भगवान जाने। तुम एक व्यापारी हो और दुकान में बैठे-

बैठे अपनी पत्नी, स्नेही, परिवार या बच्चों के बारे में खयालों से उलझे रहे हो तो वह विचारों की निरर्थक उठापटक के अलावा क्या है? हम अपने ढाई किलो के सिर में टनों विचार का बोझा उठाए फिरते हैं। सिर में एक कोहराम मचा हुआ है। जिसका कोई लेखा-जोखा नहीं है। ध्यान वास्तव में तुम्हें निर्विचार करने की प्रक्रिया है।

तुम जिस कार्य में प्रवृत्त हो अपने पूरे अस्तित्व के साथ उसमें प्रवृत्त रहो, तो तुम्हारे दिमाग का कूड़ा-कर्कट अपने आप बाहर निकल जाएगा या कचरा जमा ही न होने पाएगा। अन्यथा करोगे तुम सामायिक लेकिन उसमें भी तुम दूधवाले और शाकभाजी वाले की फिराक में रहोगे। माला तो गिनते रहोगे लेकिन बहू का खयाल विस्मृत न कर पाओगे। मंदिर में परमात्मा का दर्शन करते हुए भी नोटों के बंडल ही दिखाई देंगे। क्योंकि तुम्हारे दिमाग में सतत यही चल रहा है। सोचो क्या हर समय मस्तिष्क को इस प्रकार भारभूत बनाए रखना है? यह हो क्या रहा है? परमात्मा ने तुम्हें जीवन दिया फिर भी तुम खुशी और आनन्द से नहीं जी पाते। उसने सारी सुख-सुविधाएँ दीं, विज्ञान ने भौतिक साधन उपलब्ध कराए फिर भी सुख और आनन्द कहीं खो गया है। यहाँ जो भी आता है कोई-न-कोई शिकवा-शिकायत लेकर आता है। कुछ-न-कुछ जिंदगी में दुःख का कारण बना हुआ है सुख छिनता चला जा रहा है। अपने जीवन को जितने आनन्द, उत्सव और धन्यता के साथ जी सको, जीने की कोशिश करो। तनाव, भारीपन, अवसाद के साथ अगर सौ वर्ष भी जी लिए तो सारी जिंदगी बेकार जीए। प्रसन्नता, उत्सव, उल्लास के साथ अगर एक वर्ष भी तुम जी चुके हो तो वह जीवन को जीने की संज्ञा दे जाएगा।

जिंदगी प्रसन्नता से न जी सके तो मृत्यु भी विषाद ही प्रतीत होगी। मृत्यु को सहज समाधिमय बनाना चाहते हो, जिंदगी में अमन-चैन कायम करना चाहते हो, आराम से जीवन बिताना चाहते हो तो अपने मस्तिष्क में मँडराने वाले अनर्गल विचारों से स्वयं को मुक्त करें। प्रातःकालीन चैतन्य-ध्यान की औषधि आपको ऊर्जस्वित मानसिकता के लिए ही दी जाती है। जैसे सुबह दवा की गोली खाते हो तो उसका प्रभाव शाम तक रहता है और शाम को ली हुई गोली का असर सुबह तक रहता है, ठीक वैसे ही सुबह किये गये चैतन्य-ध्यान का प्रभाव शाम तक और शाम को किए गए संबोधि-ध्यान का प्रभाव सुबह तक रहना चाहिए। अगर आप निरंतर प्रतिदिन सुबह-शाम ध्यान करते रहे तो आपका जीवन आनंद, उत्सव और धन्यता से सराबोर बन जाएगा और निरर्थक विचारों के गोल चक्कर से बचे रहोगे। रात के सारे विचार सुबह के ध्यान में पीछे छूट गए और दिनभर के निरर्थक विचार संध्या के ध्यान में विलीन हो गए। सुबह और शाम का ध्यान हमारे जीवन में दी जाने वाली एक औषधि है जिससे पूरा जीवन आनन्द से जी सकें।

एक फ़कीर हुए जो सदा हँसते रहते थे। उनके जीवन का ध्येय था स्वयं भी हँसूँगा और दूसरों के जीवन में भी प्रसन्नता के फूल भरूँगा। उन्होंने सारा जीवन प्रसन्नता से जीया। जब जीवन की सांध्य-वेला निकट आई, सारे भक्त आस-पास इकट्ठे हो गए। लेकिन फ़कीर का तो एक ही काम कि कुछ ऐसा कह देना कि लोग हँसते रहें। उसने अपने भक्तों को बताया कि तीन दिन बाद उसकी मृत्यु होने वाली है लेकिन मेरी मृत्यु पर कोई रोना नहीं। मेरी आत्मा को अगर प्रसन्न देखना चाहते हो तो कोई भी अश्रु न बहाना, कोई उदास भी मत होना। अत्यन्त प्रसन्न रहना और मेरी मृत्यु को भी अपने लिए उत्सव समझना। जब उसे स्वयं पता चल गया कि मैं तीन दिन में मरने वाला हूँ तो वह चौबीस घंटे हँसने-हँसाने लगा। उसने लोगों को जितना हँसाया उसे सुनकर तो एक बार मुर्दे को भी हँसी आ जाए। जिस संत ने हँसी को, प्रसन्नता को अपना जीवन समर्पित किया हो वह अंतिम समय में उदासी कैसे दे सकता है। जीते-जी तो प्रसन्नता लुटाई ही मरकर भी हँसी के फूल खिलाए। मेरे प्रभु, जीवन को हँसते-हँसते जीओ उस फ़कीर की तरह।

तुम कितनी दुःख भरी जिंदगी जी रहे हो। तुम्हारे आँसू बाहर भले ही दिखाई न देते हों, लेकिन तुम्हारा दिल। वह तो रोया करता है। कभी पति से शिकायतों को लेकर तो कभी पत्नी के क्रूर स्वभाव से। कभी व्यापार से घाटा हो गया, कभी बच्चे बिगड़ गए उन्हें देखकर। तुम्हारा जीवन अवसाद का घरोँदा हो गया है जिसमें प्रसन्नता के फूल मुरझा गए हैं। दिमाग निरर्थक विचारों का पुलिंदा बन गया है, कूड़े का ढेर हो गया है। बाहर का कचरा तो साफ भी हो जाता है तुम बुहारी कर देते हो लेकिन दिमाग में भरे कचरे का क्या होगा? उसे कैसे साफ करोगे। ध्यान वह बुहारी है जो मस्तिष्क के कचरे को साफ कर सकती है। अपने मन को मौन करने के लिए जीवन को शांति और आनंद से भरने के लिए ध्यान की बुहारी लगाओ।

भगवान बुद्ध ने कहा था - समाधि के मार्ग में प्रवेश करना चाहते हो तो सबसे पहले स्वयं को निर्विकल्प करने का प्रयास करो। जब तक तुम्हारे भीतर अनर्गल विचारों की गंदगी भरी हुई है, ऊपर चाहे जितने बरक लगा देना, गंदगी तो छिपी ही रहेगी। आप जानते हैं दिन-प्रतिदिन बढ़ने वाली दुर्घटनाओं का क्या कारण है? मैं कहूँगा मस्तिष्क में उपजने वाले निरर्थक विचार। सड़क पर तो मनुष्य वाहन चला रहा है लेकिन उसका दिमाग वहाँ नहीं है, वह किन्हीं और विचारों में उलझा हुआ है। वह कहीं दूर की सोच रहा है। और जब व्यक्ति की तन्मयता, एकाग्रता एक ओर नहीं रहती, जहाँ वह होता है वहाँ नहीं होती, तो उसके जीवन में दुर्घटनाएँ घटित होंगी ही।

अगर किसी के जीवन में मनोशान्ति उपलब्ध हो जाती है, शान्त दशा प्राप्त हो जाती है तो उसे चाहे जितने कार्यों में उलझना पड़े लेकिन उनसे वह तुरन्त मुक्त भी हो जाएगा। वह जब चाहेगा अपने मूल उत्स में लौट सकेगा। सारा जीवन तो कूड़े-कचरे में बिता दिया अब क्या जीवन की अंतिम किस्त में भी वह कूड़ा-कचरा रखना है? मैंने पहले भी कहा था जब व्यक्ति शान्त चित्त होकर मृत्यु के द्वार में प्रवेश करता है तब उसके सामने न स्वर्ग का प्रलोभन होता है और न नरक के यम का भय। वह निर्विचार होकर अपने जीवन में निर्वाण की ज्योति जला लेता है।

निरर्थक अंधविश्वास और निरर्थक विचार दोनों से बचना चाहिए, तुम पापड़ सेंकते हो आँच पर। देखो, कितनी तन्मयता, जागरूकता और एकाग्रता से सेंकते हो। कहीं से कच्चा न रह जाए या कहीं से जल न जाए। कभी अपने विचारों की ओर ध्यान दिया? नहीं, वे तो आ रहे हैं, जा रहे हैं। मस्तिष्क में आवाजाही जारी है। उनकी तनिक भी उपयोगिता नहीं है पर मानसिक संघर्ष जारी है। बाहर से शान्त हो, कुछ नहीं बोल रहे हो, पर भीतर तनावग्रस्त हो, फूट पड़ने को तैयार बैठे हो। मौका नहीं मिले तो कुंठित हो जाते हो। मैं चाहता हूँ इन विचारों के साक्षी हो जाओ। विचारों को आने-जाने दो, पर स्वयं को उनसे मत जोड़ो। देखो और देखते चले जाओ, वे स्वयं से छूट जाएँगे, उनके बोझ से तुम मुक्त हो जाओगे।

कहते हैं, जर्मन विचारक हैरीगिल जापान गया। उसने सोचा था वहाँ किसी संत से मिलूँगा और अपने जीवन में ध्यान को उपलब्ध करने का प्रयास करूँगा। भारत के बाद जापान ही विश्व में ऐसा देश है जिसने ध्यान की ऊँचाइयों को पाया है। हैरीगिल ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है कि मैंने ध्यान को पाने के लिए हर संभव प्रयास किए। न जाने कितने संत-फ़कीर-महात्मा से मिला, आत्म-साधकों से मिला, कइयों ने उपदेश दिए, संदेश दिए लेकिन मेरे जीवन में ध्यान घटित नहीं हुआ। मैं अपने तीन वर्षों के जापान प्रवास में ध्यान को उपलब्ध नहीं हो पाया।

उसने वापस जर्मनी जाने की तैयारी की। होटल का बिल चुकाया और जाने को तत्पर हुआ। तब होटल मालिक ने उसे एक दिन और रुकने का आग्रह किया। हैरीगिल बोला जो बात पिछले तीन वर्षों में घटित नहीं हुई वह आज एक दिन में कैसे हो सकती हो। होटल मालिक ने आग्रह किया कि वह केवल एक दिन और रुक जाए। उसने कहा, 'मैं तुम्हें एक फ़कीर से मिलाना चाहता हूँ।' हैरीगिल बोला, 'बहुत हो गया मैं किसी फ़कीर से नहीं मिलना चाहता। मैं थक चुका हूँ, मैं कहीं नहीं जाऊँगा।' होटल-मालिक बोला, 'तुम अपने कमरे में ठहरो मैं उस फ़कीर को ही बुला लाता हूँ।' और होटल के मालिक ने बोकोजू को आमंत्रित किया।

बोकोजू आए और होटल की छत पर जाकर बैठे। हैरीगिल भी उनके साथ छत पर पहुँचा और उनके सामने बैठ गया। कुछ दूसरे लोग भी इकट्ठे हो गए। ध्यान की चर्चा चलने लगी कि अचानक भयंकर तूफान आया तूफान के साथ भूकम्प भी आ गया। सारी धरती डाँवाडोल होने लगी। मकान, दुकान, होटल लकड़ी के थे, इसके बावजूद भी लोग बाहर मैदानों की ओर दौड़ने लगे। बोकोजू के सामने बैठे सभी लोग इधर-उधर हो गए। यहाँ तक कि वह जर्मन विचारक भी जाने लगा। लेकिन बोकोजू तो वहीं बैठे रहे उसी मस्ती में। आँखें बंद की और जमे रहे।

अचानक हैरीगिल को खयाल आया कि सब लोग तो चले गए, उस फ़कीर का क्या होगा? वह भागा-भागा वापस आया। उसने देखा होटल का पूरा भवन हिल रहा था लेकिन वह फ़कीर। वह तो वैसा का वैसा बैठा था अडिग, उसने सोचा जब फ़कीर नहीं हिल रहा तो मैं भी यहीं बैठ जाता हूँ। वह बैठ तो गया लेकिन भीतर से बहुत काँप रहा था कि बोकोजू पर विश्वास करके बैठ तो गया हूँ अगर यह मकान धराशायी हो गया तो! हैरीगिल बेतरह पसीना-पसीना हो रहा था, बड़ा बेचैन किन्तु फ़कीर की काया तो वहाँ प्रतिमा की तरह विराजमान थी। कुछ समय बाद भूकम्प शांत हुआ और बोकोजू ने आँख खोलीं और जहाँ पर चर्चा रुकी थी वहीं से अपनी बात शुरू कर दी। चर्चा पूरी हुई तब उस जर्मन विचारक ने पूछा, 'बोकोजू! मैंने तुम जैसा फ़कीर आज तक नहीं देखा। मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ जब भूकम्प आया तक यहाँ आपके सामने बैठे लोग इधर-उधर होने लगे, वे भागने लगे आप क्यों बैठे रहे?' बोकोजू बोले, 'मैं भी भागा था। तुम सब बाहर की ओर भागे थे, बाहर की दौड़ लगाई थी और मैं अन्दर की ओर दौड़ा था, भीतर गया था। और तुम लोगों ने जहाँ दौड़ लगाई वहाँ भी भूकम्प आ रहा था और मैं जहाँ जाकर रुका वहाँ न पहले, न बाद में और न वर्तमान में कोई भूकम्प रहा।' हैरीगिल तब से बोकोजू का चरणोपासक हो गया।

जब साधक साधना की इस दशा में पहुँच जाता है कि पृथ्वी तल पर आने वाला भूकम्प उसकी चेतना को प्रभावित नहीं कर पाता। वह अपने अस्तित्व के उस शिखर पर पहुँच जाता है जहाँ नितान्त शांति है, कोई कम्पन या आपाधापी नहीं है। यह परम आनन्द की अवस्था है। हमारे जीवन में हर पल भूकम्प उमड़ते रहते हैं। हर समय तुलनात्मक विकल्प-विचार चलते रहते हैं।

एक महिला का पति काला है, पर पड़ोसन का पति गोरा है। अब जब भी उसे वह गोरा दिखाई देता है उसके मस्तिष्क में अपने पति का कालापन चोट मारता है। जब-जब व्यक्ति दूसरे को खुश-प्रसन्न-आनन्दित देखता है उसके मन में चोट

लगती है। तुलना-तुलना, दूसरे से अपनी तुलना। तुम्हारे पास साइकिल है लेकिन पड़ोसी के पास स्कूटर है तुम व्यथित हो जाते हो। हमारी तुलनात्मक आकांक्षा का कोई अंत नहीं है।

तुम तो शांत व्यक्ति को देखकर भी ईर्ष्या करने लगते हो। तुम सोच भी नहीं पाते कि उसने इतना शांत मन कैसे पा लिया। वह साधु कैसे हो गया। मैं यह सब क्यों न कर पाया। तुम तो संत की शांति, मौन पर भी ईर्ष्या और स्पर्धा करोगे।

ऐसा हुआ। एक युवक किसी संत के पास पहुँचा और बोला, 'आप तो बहुत शांत हैं और मेरी अशान्ति छूटती नहीं। मुझे इसी बात का ग़म है, इसी बात की शिकायत है।' संत उस युवक को कुटिया के बाहर लाया वहाँ चिनार का एक वृक्ष था, उसी के पास दूसरा छोटा वृक्ष भी था। संत ने कहा, 'देखो, एक वृक्ष आकाश को चूम रहा है और दूसरा बमुश्किल तीन चार फुट का है लेकिन युवक मैंने आज तक इस छोटे वृक्ष की आँख से आँसू नहीं देखे। कभी इसे शिकायत करते भी नहीं पाया कि हे परमात्मा! मुझे तो इतना नीचा बनाया है और इसे इतना ऊँचा बना दिया। यह जैसा है, जिस स्थिति में है, अत्यन्त प्रसन्न है। इसमें भी फूल लगते हैं, फल आते हैं, हवा से हिलोरें भी लेता है पर कभी पड़ोसी से ईर्ष्या नहीं करता।' जीवन जीना है सिर्फ स्वयं के साथ जीना है, तुलनाएँ छोड़ दो।

ध्यान तुम्हारे जीवन में दो कार्य करेगा, एक तो निरन्तर उत्पन्न होने वाले निरर्थक विचारों से मुक्ति दिलाएगा। दूसरे, तुम्हारे जीवन में निर्विचार समाधि को उपलब्ध कराने का प्रयास करेगा। ज्यों-ज्यों निरर्थक विचार बाहर आएँगे शांत अवस्था स्वयमेव प्रवेश करेगी। और यदि तुम निरर्थक विचार से मुक्त न हो पाए तो जीवन भर अच्छा-बुरा करने के बाद भी कोरे के कोरे रह जाओगे। भीतर का पात्र यदि ज़हर से भरा हुआ है और कोई अमृत भी उड़ेल दे तो वह भी ज़हर ही हो जाएगा। पहले अपने पात्र को रिक्त, निर्मल कर दो फिर तो अस्तित्व उसे खुद ही भर देगा।

ध्यान तुम्हें कृत्य से मुक्ति नहीं दिलाता है अपितु कर्तृत्व-भाव से मुक्ति दिलाता है। तुम संसार के सभी कार्य करते हुए भी, उन सबके साक्षी हो जाओगे। श्री चन्द्रप्रभ जी की पंक्ति है -

दीप जलेंगे बुझा करेंगे, तारों में टिमटिम होगी,
वह अखण्ड है जो साक्षी है, ज्योतिर्मयता अविचल होगी।

अरे! ज्योति तो वह बुझेगी जिसमें तेल और बाती हो; यह तो बिना तेल-बाती की शाश्वत ज्योति है यह कैसे बुझ सकती है! यह तो निर्धूम प्रकाश है जिसे दूसरा तो

क्या तुम स्वयं भी चाहो तो भी न बुझा पाओगे। हाँ! संसार की माया के चलते इस ज्योति पर कोई आवरण आ जाएगा। ऐसे ही जैसे किसी जलते हुए दीपक पर गिलास रख दी जाए तो उसका प्रकाश गिलास में ही रह जाएगा। वह मिटा नहीं है, ज्योति बुझी नहीं है, बस प्रकाश गिलास में सिमट गया है। आपने गिलास हटा दिया, कोई दूसरा बड़ा, उससे बड़ा बर्तन ढक दिया तो? प्रकाश का भी विस्तार होता जाएगा। और अगर उसे कमरे में रख दें तो पूरा कमरा प्रकाशित हो जाएगा। और यदि उसे भवन की छत पर रख दें तो पूरा वातावरण टिमटिमा उठेगा। अगर आपका दीपक जल चुका है तो उसकी तरंगें भी हरवलय और वलय के पार पहुँच चुकी हैं। यदि आप ज्योतिर्मय हो चुके हैं तो कभी भी उस तल को स्पर्श कर सकते हैं, जो परम शिखर है जहाँ आनन्द है, शांति है, समाधि है। वह अस्तित्व का गुरु-शिखर है जो आपको पाना है। ध्यान आपको उन तलों तक पहुँचाए, भीतर की चाँदगी, भीतर की रोशनी हमें प्रमुदित करे यही शुभकामना है।





दीप जले जागरण का

एक फ़कीर के पास चार युवक पहुँचे। उन्होंने कहा, 'फ़कीर साहब! हम आपके पास रहकर साधना करना चाहते हैं।' फ़कीर ने कहा, 'ठीक है, पर मेरे पास रहने से पहले तुम्हें परीक्षा से गुजरना होगा।' युवक तैयार हो गए। फ़कीर ने अपनी शक्ति से चार कबूतर रचकर उन चारों को दिए और कहा, 'इन कबूतरों को तुम अलग-अलग स्थानों पर ले जाओ। जहाँ तुम्हें ऐसा लगे कि यहाँ निर्जन है, जहाँ तुम्हें कोई देखने वाला नहीं है, वहाँ इन कबूतरों की गर्दन मरोड़ देना।'

चारों युवक रवाना हो गए। साँझ के समय एक युवक गली में से गुजर रहा था। गली एकदम सुनसान थी। उसने चारों ओर देखा, कोई दिखाई न दिया। उसने तुरंत कबूतर की गर्दन मरोड़कर हत्या कर दी। युवक फ़कीर के पास पहुँचा और बताया कि, 'मैंने एक सुनसान, निर्जन गली में कबूतर की हत्या कर दी, जहाँ कोई देखने वाला भी न था।' फ़कीर यह सुन मुस्कराए।

दूसरा युवक कबूतर को लेकर नगर के बाहर एक वृक्ष के नीचे पहुँचा, सोचा जंगल है, यहाँ कोई देखने वाला न था। चारों ओर देखा और कबूतर की गर्दन दबा दी। उसने आकर फ़कीर को बताया कि 'सुनसान जंगल में वृक्ष के नीचे, जहाँ कोई नहीं देख रहा था कबूतर की गर्दन मरोड़ दी।' फ़कीर फिर मुस्कराए।

तीसरे युवक ने सोचा यहाँ तो वृक्ष, चिड़िया, आकाश, सूरज सभी देख रहे हैं।

मुझे कहीं और जाना चाहिए। वह चलते-चलते एक पहाड़ी गुफा में पहुँच गया। वहाँ अंधकार था। उसे पक्का विश्वास हो गया कि यहाँ कोई देखने वाला नहीं है, उसने भी कबूतर की गर्दन मरोड़ दी। वह वापस लौट आया, और बोला, 'जैसा आपने कहा था, मैंने वैसा ही किया। पहाड़ी की अँधेरी गुफा में मैंने उसकी गर्दन मरोड़ी है।' फ़कीर फिर मुस्करा पड़े।

तीन युवक वापस आ गए। लेकिन चौथा नहीं आया। दिन पर दिन बीत गए। फ़कीर चिन्तित होने लगा कि वह गया कहाँ। फ़कीर ने अपने शिष्यों से उसका पता लगाने के लिए कहा। शिष्य उसे ढूँढ़ने निकले। उन्होंने उसे निर्जन जंगल में एक वृक्ष के नीचे चिन्तन करते हुए पाया। शिष्यों ने उससे कहा, 'तुम्हें फ़कीर साहब के पास से गये तीन माह बीत चुके हैं तुम वापस क्यों नहीं पहुँचे।' युवक बोला, 'फ़कीर साहब ने निर्जन स्थान पर कबूतर की गर्दन मरोड़ने को कहा था, लेकिन मुझे आज तक वह सूनसान स्थान नहीं मिला। मैं गुफाओं में गया, जंगलों में गया लेकिन मुझे स्मरण आता कि सदगुरु ने कहा था जहाँ कोई देख न रहा हो, वहाँ हत्या करना। पर यहाँ तो कबूतर स्वयं देख रहा था, मैंने इसकी आँखों पर पट्टी बाँध दी। लेकिन समस्या हल न हुई, मैं स्वयं देख रहा था। मैंने अपनी आँखों पर पट्टी लगा ली, तो मन में विचार आया 'वह' अभी भी देख रहा है। ऊपर वाला भी और भीतर वाला भी।'

वह युवक फ़कीर के पास पहुँचा। फ़कीर ने कहा, तुम ही योग्य हो, तुम्हारा स्वागत है, साधना के लिए जिसे 'स्वयं' दिखाई देता है, उसे 'वह' उपलब्ध होता है।

माना दुनिया की आँखों में तो धूल झोंक सकते हो, पर याद रखना लाख कोशिश के बावजूद खुद की आँखों में धूल नहीं झोंक पाओगे। उस परमत्त्व को धोखा नहीं दे पाओगे। एक दूसरे को धोखा दे सकते हो लेकिन स्वयं को कब तक धोखा दोगे? हमारे साथ अब तक यही होता आया है। हम सोचते हैं बंद कमरे में कोई गलत कार्य करेंगे तो उसे कौन देख पाएगा? पर इस सत्य को नहीं भूलना चाहिए कि हमारे भीतर जो सूक्ष्म तत्त्व है, वह परमात्मा का ही स्वरूप है।

तुम्हारे अस्तित्व में जो आता है, सत्ता है, वही तो परमात्म-तत्त्व की आभा है। व्यक्ति को यह सत्य समझ लेना चाहिए कि बाहर जो दिखाई दे रहा है वह अचेतन है, जड़ है, पुद्गल है। अगर कहीं चेतना, प्राण, स्पंदन या जागृति है, तो स्वयं के अन्तस्तल में। स्पंदनों और कृत्य की अनुभूति अन्तस्तल में है। तुम्हारे पाप और पुण्यों के ज्ञाता तुम स्वयं ही हो। छिपकर न पुण्य कर सकते और न ही पाप।

ध्यान का कार्य है तुम्हारी अन्तश्चेतना को जाग्रत करना। सारी दुनिया को धोखा दे पाओगे पर स्वयं तो उसके दृष्टा रहोगे। दूसरे को ढूँढ़ने के लिए तो प्रकाश की

आवश्यकता होगी। बाह्य प्रकाश में तुम दूसरी वस्तुएँ ढूँढ़ लोगे, लेकिन स्वयं को खोजने के लिए बाहरी प्रकाश की आवश्यकता नहीं होगी। घुप्प अंधकार में स्वयं के बोध को उपलब्ध हो सकते हो। गहन अंधकार में भी स्वयं की तलाश कर सकते हो। एक बात और है – बाहर जितना गहरा अंधकार होगा, भीतर की तलाश उतनी ही गहरी शुरू होगी। जब तक अंधकार का बोध न होगा तब तक भीतर जगमगाने वाले दीपक की आभा हमें दिखाई न देगी।

दीपावली कभी पूर्णिमा को नहीं आती। वह सदा अमावस्या को होती है। क्योंकि अंधकार की प्रतीति के बिना, अंधकार के ज्ञान के बिना प्रकाश का महत्व न होगा। सत्य की जानकारी के लिए असत्य का बोध होना भी आवश्यक है। असत्य को जानकर ही स्वयं को सत्य के बोध से भर सकते हो। झूठ को झूठ, गलत को गलत, मिथ्या को मिथ्या नहीं पहचानोगे, तो भला उससे छुटकारा कैसे पाओगे? प्रकाश की यात्रा करने के पूर्व अंधकार की प्रतीति कर लो। क्षमा के मार्ग में उतरना चाहते हो तो क्रोध की पूर्ण प्रतीति कर लो। अन्यथा सत्य के लिए बढ़ाए गए प्रत्येक कदम में असत्य प्रश्नचिन्ह बनकर खड़ा हो जाएगा।

मेरे प्रभु, जीवन की अच्छाइयों को बाद में देखना, पहले बुराइयों का सामना तो कर लो। जीवन में जो अंधकार समाया है उसे निरख लो, असत् प्रवृत्तियों को भली-भाँति पहचान लो। ऐसा कर लेने पर संसार में रहकर भी तुम अनासक्त जीवन जी सकोगे। अनासक्ति का संबंध शरीर के साथ नहीं है और न ही लाल, पीले, सफ़ेद वस्त्रों के साथ है। इन श्वेत वस्त्रों को धारण करके भी व्यक्ति आसक्ति के कीचड़ में जी सकता है और इन रंगीन वस्त्रों के साथ भी व्यक्ति अनासक्त योगी हो सकता है।

संसार में ऐसे जीओ जैसे कीचड़ में कमल। पैर भले ही संसार में हों पर मस्तिष्क आकाश में रहना चाहिए। आपने देखा व्यक्ति सत्तर वर्ष का हो जाये तब भी मेरा-तेरा जारी रहता है! जब तक मेरा-तेरा जीवित रहेगा, अनासक्ति की छाँह न मिल सकेगी।

जीवन में धर्म के नाम पर चाहे जो कुछ कर लेना पर अगर भीतर से निर्लिप्तता, अनासक्ति न जागी तो द्वैत में भटकते रह जाओगे। ब्रह्म-स्वरूप में वही साधक प्रवेश कर पाता है जो अनासक्त है। अनासक्ति ही साधना का प्रथम और अंतिम चरण है।

आज मैं आपको आत्म-चिंतन के लिए कुछ सूत्र दूँगा, अपनी ही कमजोरियों को पहचानने के लिए। जीवन तो बंधन-मुक्ति के लिए पाया था, पर अब तक जीवन में कितने नये बंधनों को बाँध चुके हो, क्या कोई सूची है? दलदल से उबरने के लिए आए थे पर और गहरे जाते जा रहे हो। और इस सत्य को सदा ख्याल में रखना कि

अगर ऐसे जीवन जीते रहे तो दलदल से ऊपर तो नहीं उठ पाओगे, एक-दो पाँव भीतर ही जाओगे ।

मैं तो कहूँगा कि तुम संसार में रहो । पति-पत्नी, परिवार, व्यवसाय में रहो, लेकिन तुम्हारे विचार, तुम्हारी भावनाएँ, तुम्हारा चित्त, मन, ये सब संसार के दलदल में नहीं रहने चाहिए । तुम्हारा मन यदि दलदल में चला गया और तुमने भले ही विवाह न किया हो, धन-दौलत भी न हो, तब भी तुम उसमें फँसे रह जाओगे । काम, क्रोध, कषाय ये बाहर कम और व्यक्ति के अन्तस् में अधिक होते हैं । व्यक्ति जब तक भीतर से आसक्त होगा, बाहर निमित्त मिलने पर उसकी कामनाएँ, वासनाएँ, क्रोध, लोभ सब आते रहेंगे । इसका अर्थ हुआ तुम उस तिनके की तरह हो जिसे हल्का-सा अग्नि का संस्पर्श मिला और जलना शुरू हो गया । तुम्हारी शक्ति इतनी कमजोर हो गई है कि छोटा-सा निमित्त मिलते ही आवेश पैदा हो जाए । किसी रूपवान को देखकर कामना, तृष्णा के बीज फूट पड़ना हमारे जीवन की कमजोरी है ।

हमारे सामने जब तक ये दो कमजोरियाँ बनी रहेंगी, हम अध्यात्म के मार्ग में प्रविष्ट नहीं हो पाएँगे । पैसा और गोरी चमड़ी हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक हैं । इसलिए कहता हूँ अपनी कमजोरियों को पहचानें । सत्य की, प्रकाश की, उज्ज्वलता की बातें जानने से पहले अंधकार को पहचान लें । जिसे अंधकार की पहचान नहीं, वह प्रकाश को भी नहीं जान पाएगा । असत्य को जानकर सत्य को जाना जा सकता है । तुम सत्य की प्रगति करना चाहते हो, सत्य के मार्ग में प्रवेश करना चाहते हो, तो अपने भीतर समाए हुए ज़हर को तो बाहर निकालो । निश्चित रूप से यह ध्यान तुम्हारे जीवन में कुछ अमृत की बूँदें देगा लेकिन तुम्हारा पात्र यदि अनिर्मल है तो अमृत की बूँदें क्या काम आएँगी । तुम्हारे पास एक बूँद भी ज़हर है तो सौ बूँद अमृत ज़हर हो जाएगा । ज़हर के पत्र में ज़हर डालो या अमृत कोई फ़र्क नहीं पड़ता । वापस निकालोगे तो ज़हर ही मिलेगा ।

हमारे भीतर इतनी कामनाएँ, लालसाएँ भरी हैं कि ध्यान के समय कुछ बूँदें अमृत की गिर जाती हैं, तो भी हम उसकी अनुभूति नहीं कर पाते । यहाँ अमृत तो सब पर एक जैसा बरस रहा है लेकिन सबकी पात्रता और ग्राहकता अलग-अलग है । तुम यहाँ ध्यान करने भी बैठ जाते हो लेकिन तुम्हारे चित्त में वही पति-पत्नी, दुकान, मकान सब कुछ वही चलता रहता है ।

हम लोग आबू में थे ध्यान-साधना के लिए; वहाँ इटली का एक जोड़ा आया हुआ था । उन्होंने हमारे पास दस-पन्द्रह दिन ध्यान किया । चर्चा के दौरान एक दिन उन्होंने बताया कि हम इटली में भी ध्यान करते हैं । मैंने पूछा, 'यह तो अच्छी बात है

पर वहाँ ध्यान में क्या करते हो?’ अब यह हर किसी की कहानी है। उन्होंने बताया, ‘जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ से दो सौ कि.मी. दूर मेरी पत्नी रहती है। हम अलग-अलग शहरों में सर्विस करते हैं। मैं सुबह ठीक सात बजे ध्यान करता हूँ, और उस शहर में मेरी पत्नी भी ठीक सात बजे ध्यान करती है।’ मैंने फिर पूछा, ‘ध्यान में करते क्या हो?’ उन्होंने बताया, ‘इस शहर में रहकर मैं उसका ध्यान करता हूँ और वहाँ वह मेरा ध्यान करती है।’ दोनों एक-दूसरे का ध्यान कर रहे हैं।

जीवन में ऐसा ही कुछ घटित हो रहा है। तुम्हें अभी तक प्रकाश का बोध नहीं है। इसलिए असत्य से छूटने के लिए सही मार्ग भी उपलब्ध नहीं हुआ।

मनुष्य अपने जीवन में समाई हुई दुष्प्रवृत्तियों को नहीं पहचानेगा, तो उनसे मुक्त नहीं हो पाएगा। जरा देखो, पान-पराग खाते हो, बीड़ी-सिगरेट फूँकते हो, कभी बोटल तक भी गये होंगे, कभी सोचा ये जीवन की कितनी जहरीली दुष्प्रवृत्तियाँ हैं? तुम इनके दीवाने, मोहताज हो गए हो। अगर तुम सिगरेट न पीओ तो सिगरेट का कुछ न बिगड़ेगा, लेकिन तुम्हें लगता है कि तुम्हारा कुछ बिगड़ रहा है। तुम्हारी आदतें तुम पर हावी (विजयी) हो गईं। परिणाम यह हुआ कि तम्बाकू तुम नहीं चबा रहे, तुम्हें तम्बाकू चबा रहा है। तुम सिगरेट नहीं पी रहे सिगरेट तुम्हें पी रही है। ये गुलामी तुम्हारे लिए कितनी मँहगी होगी, शायद आने वाले दिनों में तुम्हें अहसास हो जाये।

तुम भूल गए हो जैसे सिगरेट पीकर उसका टुकड़ा फेंक देते हो, ऐसे ही जिंदगी भी हो जाने वाली है। यह जिंदगी सिगरेट का धुआँ है। पल-पल यह धुआँ उठ रहा है। व्यक्ति नहीं पहचान रहा कि मेरी जिंदगी धीरे-धीरे धुआँ बन रही है। एक दिन धुआँ उठना बंद हो जाएगा और इस तन को सिगरेट के टुकड़े की तरह फेंक दिया जाएगा।

तुम स्वयं को पढ़ा-लिखा समझते हो। इस बात से गौरवान्वित हो कि तुम्हारे पास ऊँची-ऊँची डिग्रियाँ हैं, फिर भी तुम सिगरेट के डिब्बे पर लिखी वैधानिक चेतावनी - ‘सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकर है’ - पढ़ते हो? शायद पढ़ते भी हो, लेकिन जानबूझकर उपेक्षा कर देते हो। उसका धुआँ तुम्हारे मुँह लग गया है। उनके वस्तुएँ इसी तरह तुम्हें आकर्षित करती हैं और तुम आस्वादन करते-करते उसके गुलाम हो जाते हो। यह तुम्हारे मन की कमजोरी है। तुम जानते हो यह हानिकर है। पर तुम इसके इतने मोहताज हो गए हो कि बिना रोटी खाए रह सकते हो लेकिन यह आदत नहीं छोड़ सकते। और तो और चाय की भी हमने ऐसी आदत बना ली है कि लोग कहते हैं, उपवास तो कर लें पर चाय.....! हेरोइन जैसे आधुनिक व्यसनों ने तो मनुष्य की हालत ही बिगाड़ दी है। मुझे याद है जब हम मद्रास में थे,

एक व्यक्ति को सिगरेट में हेरोइन पीने की आदत थी। उसकी माँ हमारे पास आई और बोली, महाराजश्री इसे हेरोइन छुड़वा दीजिए। पैसा बर्बाद हो रहा है और घर भी उजड़ रहा है। हमने कहा, 'दस दिन इसे हमारे पास छोड़ दो।' वह व्यक्ति तीन दिन भी हमारे पास नहीं रह पाया। संध्या होते ही वह मछली की तरह तड़पने लगता, छटपटाने लगता है। हेरोइन उसकी आवश्यकता बन गई। उसे हेरोइन नहीं मिलती तो रातभर तड़पता रहता। मैंने सोचा इंसान भी कितना मूढ़ है !

मनुष्य के जीवन में अगर ऐसी वेला आती है कि राजर्षि जनक जैसा अनासक्त भाव आता है, भरत चक्रवर्ती जैसी निस्पृहता आती है, भगवान श्रीकृष्ण जैसा अनासक्त योग जगता है, तो संसार में सब कुछ करके भी संसार के दलदल से ऊपर उठे रहोगे। संसार में मकान, दुकान, घर-परिवार के मध्य रहने पर भी स्वयं को उससे ऊपर पाओगे। अभी आप ध्यान कर रहे हैं, और आपने पाया होगा कि यहाँ से जाने के बाद घर और दुकान में भी स्वयं को आनन्दित महसूस कर रहे होंगे। ध्यान का छोटा-सा फल आपको प्रतिदिन मिल रहा है। आपका जीवन कुम्हलाए हुए फूल की तरह बीत रहा था, लेकिन अब ध्यान से आपके जीवन में प्रसन्नता के फूल खिल रहे हैं, महक छा रही है।

महाभारत की कहानियों में एक प्यारी कहानी है। कुछ गोपिकाएँ यमुना नदी पार कर कृष्ण के पास जाना चाहती थीं। यमुना में बहुत पानी था और नाव कोई न थी। यमुना किनारे दुर्वासा ऋषि बैठे थे। वे गोपिकाएँ दुर्वासा के पास गईं। गोपिकाओं के पास झोलों में कुछ मिठाइयाँ थीं, दुर्वासा ने वे मिठाइयाँ ले लीं और सब खा गए। मिठाइयाँ खा लीं तो कुछ नहीं, गोपिकाओं ने कहा - हमें यमुना पार जाना है हम उस पार कैसे जाएँ। दुर्वासा ने कहा - तुम यमुना के पास जाओ और कहीं अगर आज दुर्वासा ने उपवास किया हो तो हमें मार्ग दे दो। गोपिकाएँ असमंजस में पड़ गईं। अभी-अभी तो ऋषि ने हमारी सारी मिठाई खाई है और कहते हैं.....! खैर, वे यमुना किनारे गईं और वे ही शब्द दुहरा दिए। आश्चर्य, वहाँ मार्ग बन गया। यमुना दो हिस्सों में बँट गई। सारी गोपिकाएँ उस पार पहुँच गईं।

दिनभर वे कृष्ण के साथ रहीं। रासलीला में मग्न। साँझ का समय हुआ उन्हें वापस आना था। उन्होंने कृष्ण को अपनी समस्या बताई। पानी चढ़ा हुआ है और नौका भी नहीं। कृष्ण ने पूछा - तुम आई कैसे थीं? जैसे आई वैसे ही वापस चली जाओ। गोपियों ने सारा किस्सा बयान कर दिया। कृष्ण ने कहा - तुम फिर यमुना के पास जाओ और कहो कि अगर कृष्ण ने रास-लीलाएँ न की हों तो मार्ग दे दो। गोपियाँ कृष्ण के ऊपर हँसती हुई कि दिन भर हमारे साथ वृन्दावन में हँसते-गाते, खेलते-रास रचाते रहे और अब कहते हैं.....। खैर, अपना क्या, चलो यही सही। वे

यमुना के पास पहुँचीं और कहा कि अगर आज कृष्ण ने रास-लीलाएँ न की हों तो हमें मार्ग दो। आश्चर्य यमुना दो भागों में विभक्त हो गई। बीच में मार्ग बन गया। यह अनासक्त योग है।

मैं नहीं जानता यह कथानक कहाँ तक सही है। लेकिन मैं तो यही कहना चाहूँगा कि जैसे दुर्वासा ने भोजन करके भी उपवास कर लिया, कृष्ण गोपियों के साथ रास-लीला करके भी उनसे उपरत रहे, उसी तरह हम भी जीवन जीते हुए भी संसार में लिप्त न हों। मुझे आपके साथ जीना है, रहना है, लेकिन जब मैं अपने में लौटूँगा तो सिर्फ अपने आप में रहूँगा। ध्यान का यही परिणाम है कि वह आपको अपने में लौटा लाता है। ध्यान निज स्वरूप को उपलब्ध करने की प्रक्रिया है।

ध्यान न मंत्र है, न तंत्र है और न यंत्र है। जहाँ व्यक्ति इन तीनों से मुक्त हो जाता है मन से, तन से और विचार से वहीं से वह ध्यान में प्रवेश करता है। ध्यान की यह सहज उपलब्धि है कि तुम जब जो सोचना चाहो बस वही सोचो। मनुष्य की यही कमजोरी है कि वह जब जो सोचना चाहता है सोच नहीं पाता। ध्यान यह कार्य करता है कि हम जहाँ हैं वहीं अपने चित्त को रख सकते हैं, उसे ला सकते हैं, निर्देशित कर सकते हैं। जिसका चिन्तन करना चाहें उसी का चिन्तन करें, यह ध्यान की उपलब्धि है। जब खाना बनाएँ तो सिर्फ खाना बनाएँ, व्यवसाय करें तो सिर्फ व्यवसाय। वहाँ मकान और बच्चे न आएँ। अब ध्यान में हैं तो सिर्फ ध्यान में हैं कोई दूसरा तत्त्व प्रविष्ट नहीं होना चाहिए।

एक बात मैं और कहना चाहूँगा, ध्यान के मार्ग में अगर धैर्य साथ रहा तो धीरे-धीरे बड़ी उपलब्धि यह होगी कि आत्मगत भाव में मस्त हो जाओगे। संसार तो तब भी वैसा का वैसा ही रहेगा। वस्तु और विषय भी वे ही रहेंगे। जो बदलाव होगा वह व्यक्ति की चेतना में होगा। सब कुछ वैसा ही, परन्तु भीतर की चेतना रूपान्तरित।

वस्तु और विषय का गुण-धर्म, ज्ञानी और अज्ञानी के लिए एक-सा बना रहता है। ऐसा नहीं होता कि ज्ञानी के लिये गुण-धर्म कुछ और हो और अज्ञानी के लिये कुछ और, पर जो अन्तर से जागरूक हो चुका है, जिसने जीवन में ध्यान की ज्योति लगा ली है वह न तो कभी विषय में खोता है, न ही वस्तु में। वह सदा आत्मगत भाव में रहता है। जब चेतना स्वस्थ और अन्तर्मुखी हो जाती है तब जड़ पदार्थ, पर-पदार्थ उसे प्रभावित नहीं कर पाते।

कभी आपने सोचा कि हमारी चेतना को सबसे ज़्यादा प्रभावित पर-पदार्थ करते हैं। मन और विचारों की चंचलता भी पर-पदार्थों में जीने का परिणाम है और परिणामतः हमारी अपनी मालकियत हमारे हाथ से छिटक जाती है और हमारे

आस-पास जो कुछ होता है, वह मालिक बन जाता है। वह निरन्तर हमें अपनी ओर खींचता रहता है। कोई भी चीज़ हमें खींच सकती है, हमें प्रभावित कर सकती है। कोई महिला पास से गुजरी, तुमने देखा, सुन्दर है – तुम प्रभावित हो गये। कोई खूबसूरत कपड़े पहने व्यक्ति गुजरा, तुम प्रभावित हो गये। उसकी पोशाक ने प्रभावित किया, रंग ने प्रभावित किया। बगल में से कार गुजरी, तुम प्रभावित हो गये। इसका अर्थ यह हुआ, हमारे आस-पास से जो गुजरा है हमें प्रभावित कर लेता है। पर-पदार्थ हमसे ज़्यादा बदशाली हो गये हैं, वे जब चाहें तब हमें बदल देते हैं। हमारी भाव-दशा, हमारा चित्त, हमारा मन, सब कुछ 'पर' से जुड़ा हुआ है। ध्यान पर से मुक्ति और स्व में स्व का निवास है।

बुद्ध और बुद्ध दोनों एक ही जगत् में जीते हैं। अन्तर कभी जगत् में नहीं होता। वह मनुष्य के भीतर घटित होता है। बुद्ध उन वस्तुओं के बीच जीता है, इसके बावजूद उसकी आत्मा असंग बनी रहती है। बाहर के संस्कार, उसके संस्कारों को प्रभावित नहीं कर सकते।

अगर निज-स्वरूप को उपलब्ध नहीं हो सके तो परिणाम यह निकलेगा कि संसार का त्याग कर दोगे और ऐसा करके परिस्थितियों को भी बदल दोगे, लेकिन अपने आपको नहीं बदल पाओगे। परिस्थितियों को ज़िंदगी भर बदलने के बावजूद स्वयं को बदल नहीं पाए तो बस खूँटे बदल भले ही जाओ, लेकिन आखिर बँधे तो रहोगे।

मेरी नज़र में परिस्थिति को बदलने की कोशिश कम, स्वयं को बदलने की कोशिश अधिक की जानी चाहिए। जो सतर्क और सचेत है वह परिवेश को बदलने की कोशिश कम करेगा। उसका विश्वास बाहर पर कम और अन्तर पर ज़्यादा होगा। मेरी नज़र में मनुष्य की तीन अवस्थाएँ हैं। पहली, परिस्थिति हमारी मालिक बन जाये। हम बस, सिर्फ उसके पीछे-पीछे घिसटते रहें। वह अज्ञानी की अवस्था है। दूसरी, हम होते हैं और परिस्थिति हमें प्रभावित नहीं कर पाती। यह उस व्यक्ति की परिस्थिति है जो जागरूक है, इसमें भी किंचित् अज्ञान का समावेश हो सकता है। यहाँ जागरण स्वाभाविक नहीं होगा, संघर्ष से जुड़ा होगा। अगर एक क्षण भी चूके तो वस्तु हमें प्रभावित कर लेगी। तीसरी दशा है, हम परिस्थिति को प्रभावित करने लग जायें। मेरी नज़र में यही साधना की पराकाष्ठा है। इसमें कहीं कोई प्रयास नहीं, सब कुछ अनायास। जिस पर परिस्थितियाँ प्रभावशाली नहीं हो पातीं, वह उन सबसे शक्तिशाली हो जाता है।

ध्यान हमें जीवन में पहली दशा से मुक्ति दिलाता है और दूसरी दशा के मार्ग से

तीसरी दशा में प्रवेश दिलाता है। हमारे भीतर सजगता को जन्म देता है। एक विशेष प्रकार की सजगता, जागरूकता। अन्यथा हमारी बेहोशी हम पर इतनी हावी है कि एक सपना भी हम पर हावी हो जाता है। और कभी-कभी तो स्वप्न को ही हम वास्तविकता मान बैठते हैं। भले ही जागकर हम कह दें सपना बेतुका था, भ्रम था। लेकिन फिर भी जब वह चल रहा था, तब हम पूरी तरह से उसमें खो गये थे। आखिर स्वप्न इतना शक्तिशाली कैसे हो गया। मैं तो कहूँगा कि हम शक्तिहीन थे इसलिए वह शक्तिशाली हो गया। इसलिए एक बात हमेशा स्मरण रखो। जब हम शक्तिशाली होते हैं तो पर-पदार्थ भी हमें प्रभावित नहीं कर पाते। अगर भीतर से सजग हो गये तो निकट से कोई सुन्दर स्त्री निकल जायेगी या सुन्दर पुरुष गुजर जाएगा, क्रोध-प्रेम के निमित्त आएँगे, पर हमारे भीतर कहीं कोई तरंग उत्पन्न नहीं कर पायेंगे।

हमें अपनी चेतना की ऐसी ही अवस्था को उपलब्ध करना है। मैं जानता हूँ कि शिविर जितने दिनों में यह सब कुछ हो नहीं पायेगा। लेकिन यात्रा तो प्रारम्भ हो जायेगी, पगडंडी पर चढ़ तो जाओगे। अगर इतना ही हो गया तो इसे मैं शिविर की सबसे बड़ी सफलता मानूँगा।

जब ध्यान में बैठते हो, विशेष रूप से सायंकालीन ध्यान में, संबोधि-ध्यान में तब विचार सबसे ज्यादा प्रभावित करते होंगे। उस समय अगर उन विचारों को, और विचारों से उपजने वाले दृश्यों को हम साक्षी और दृष्टा बनकर निहारते रहें, उनकी विपश्यना करते रहें, तो वे कभी हमें प्रभावित नहीं कर पायेंगे। वे सब वैसे ही गुजर जायेंगे जैसे पर्दे पर चलचित्र। अपने अन्दर श्वास-श्वास में साक्षित्व उपलब्ध कर लो। आत्मगत भाव में बँधे रहो। परिणाम यह निकलेगा, तुम कभी वस्तुओं में खो नहीं पाओगे। मेरे देखे, जो आत्मगत भाव में बना रहता है, वह स्वयं में बना रहता है। हमारे जीवन का हर क्षण एक अवसर है। हम इस क्षण को खो भी सकते हैं, और उपयोग भी कर सकते हैं। एक ही अवसर में कोई उपलब्ध होकर आयेगा, कोई खोकर।

भर्तृहरि के जीवन की एक प्यारी घटना है। कहते हैं वे जंगल में साधना में लीन थे। अचानक आवाज़ आई। आँख उघाड़ी, देखा, तो घुड़सवार दो दिशाओं में भागते चले आ रहे थे। जब सामने की ओर नज़र डाली, तो देखा सूर्य की रोशनी में एक हीरा चमक रहा था। भर्तृहरि जो कभी राजा थे, कई हीरे उनके हथेली से गुजरे थे, लेकिन ऐसा हीरा कभी नहीं देखा था। पल भर के लिए सोचा, उठूँ और इसे पा लूँ। लेकिन पुनः चेतना जाग्रत हुई और मन इन्कार कर गया। उठी तरंग फैल न पायी, वहीं की वहीं अन्तर्सागर में समा गयी। क्षण भर बाद उन्होंने जीवन में अभिनव कान्ति का अनुभव किया।

कुछ पल में दोनों घुड़सवार आमने-सामने खड़े थे। दोनों की तलवारें हीरे पर टिकी थीं। दोनों हीरे पर हक जतला रहे थे। कोई निर्णय हो न पाया, तलवारें खिंच गयीं। क्षण भर में दो लार्शें पड़ी थीं - तड़फती! तड़फती!! हीरा अपनी जगह मौन था। सूर्य की किरणें अब भी चमक रही थीं। लेकिन इतने समय में सब कुछ हो गया। एक के अन्तर में संसार उठा और वैराग्य में बदल गया। दो जो अभी-अभी जीवित थे, उन्होंने पत्थर पर प्राण न्यौछावर कर दिये।

भतृहरि ने कुछ सोचा, आँखें बंद कीं और ध्यान में डूब गये।

उस निर्जन वन में पड़ा हुआ हीरा शायद नहीं जानता था कि कोई उसकी ओर आकर्षित हो गया है। अपने ध्यान से, केन्द्र से विचलित हो गया है और हीरे को शायद यह भी पता नहीं है कि दो लोग लड़े और अपनी जान गँवा बैठे हैं। मेरे देखे, इस धरती पर कुछ भी ऐसा नहीं है, जो हमें आकर्षित कर रहा हो। हाँ, हम आकर्षित हो रहे हैं। अगर एक लम्बे अर्से तक ध्यान में रमण करते रहें, तो ध्यान तुम्हें एक ऐसी आन्तरिक शक्ति देगा, एक ऐसा बल कि पर-पदार्थों का आकर्षण स्वतः ही खो जायेगा।

जब जीवन में यह साधना सध जाती है तो हमारा जीना सार्थक हो जाता है। अन्यथा जब हम इस धरती पर आए थे, तब मूर्च्छित अवस्था में थे और जब जाएँगे तब भी शायद ही यह बोध रहे कि हम जा रहे हैं। वास्तविकता तो यह है कि हम सारा जीवन ही बेहोशी से जीये।

यह ध्यान-शिविर हमारे जीवन में अरुणोदय है, आखिर बिस्तर पर कब तक सोए रहोगे। अब अँगड़ाई लेकर उठने की बेला आ गयी है, उठो और जीवन में बिखरा हुआ स्वर्ण समेटो।

पृथ्वी पर आना तो मूर्च्छित अवस्था में हो सकता है, लेकिन अपने जीवन में ध्यान को ऐसे घटित कर लो कि जाते समय मृत्यु का पूरा बोध रहे। आप इतने जाग्रत, इतने जीवन्त हो जाएँ कि मृत्यु को भी साक्षी-भाव में देख सकें। आपने देखा होगा कि अधिकांश व्यक्ति मृत्यु की अवस्था आने पर प्रायः मूर्च्छित दशा में होते हैं। ध्यान यह उपलब्धि कराता है कि व्यक्ति होश के साथ जागा हुआ लौटता है। शरीर, विचार, अनुभूति, भाव, अन्तस् में होने वाले स्पंदनों के प्रति भी होश जग जाता है तो यह जीवन की उपलब्धि है। होशपूर्वक अगर वह नरक में भी जाएगा, तो वहाँ भी स्वर्ग बना देगा क्योंकि वह नरक को स्वर्ग बनाने की कला जानता है।

मेरा आपसे निवेदन है कि हमारे भीतर जो दुष्प्रवृत्तियाँ समाई हैं उन्हें पहचानने की कोशिश करें। ध्यान करें। ध्यान के द्वारा उन्हें बाहर निकालें। ध्यान में जब मैं

कहता हूँ अन्तर के अनंत सागर में डुबकी, तब उन दुष्प्रवृत्तियों को देखने का प्रयास करें और उन्हें बाहर लाएँ। जैसे एक नाविक नौका में भरा हुआ पानी उलीचता है, ध्यान के समय आए हुए विकल्पों को बाहर उलीच दो। तुम्हारी नौका भी पार लगेगी, तुम मंजिल के करीब पहुँच जाओगे। मोक्ष और निर्वाण उसी दशा का नाम है, जब व्यक्ति का सारा धुआँ समाप्त हो जाता है।

अध्यात्म ने एक शब्द दिया है – निर्वाण। निर्वाण – वाण का अर्थ वासना और निर् का अर्थ है मुक्ति। जहाँ व्यक्ति के जीवन में वासना से पूर्णतया मुक्ति हो गई वहाँ निर्वाण की दशा घटित हो गई। जीवन में समाई हुई वासनाएँ, दुष्प्रवृत्तियाँ बाहर आ गईं और अन्दर का पात्र रिक्त हो गया, इसी रिक्तता का नाम निर्वाण है। निर्वाण वह दशा है जहाँ ज्योति तो जलती रहे पर उसमें उठने वाला धुआँ समाप्त हो जाए। ज्योति तो सबके अन्दर जल रही है पर वह निर्धूम नहीं है। ध्यान वह कला देता है जिससे तुम निर्धूम हो जाओ, तुम्हारी बेहोशी समाप्त हो ओर होश जाग्रत हो जाए।

ध्यान अर्थात् होश और संसार अर्थात् बेहोश। जब तक तुम्हारे भीतर बेहोशी रहेगी संसार घटित होता रहेगा और जैसे ही तुम होश से भरोगे समाधि पैदा होगी।

मुझे याद है भगवान बुद्ध के पास उनका शिष्य आनन्द पहुँचा और कहा, आपने मुझे बाहर जाने का आदेश दिया है, लेकिन मेरे मन में शंका है। यदि मुझे रास्ते में स्त्रियाँ मिलें तो उनके प्रति क्या व्यवहार करूँ। बुद्ध ने कहा, अपनी नज़र झुकाकर आगे बढ़ जाना। आनन्द ने कहा, प्रभु नज़र नीचे झुकाकर जाना संभव न हो, उन्हें देखना अनिवार्य हो जाए तो? बुद्ध ने कहा, ठीक है उन्हें देखते रहना पर छूना मत। आनन्द ने फिर प्रश्न किया, प्रभु अगर कोई स्त्री ज़मीन पर गिरी हो, असहाय हो, दुःखी हो, बीमार हो, पीड़ित हो उस समय छूने की आवश्यकता पड़ जाए तो? एक मिनट मौन रहकर बुद्ध बोले, आनन्द तुम जाओ। जो आवश्यकता पड़े देखना, छूना, सब करना पर अपने होश को साथ रखना। यदि तुम्हारा होश साथ है तो चाहे जो करोगे पर निर्लिप्त ही वापस आ जाओगे।

गौतम बुद्ध ने आनन्द से बहुत कीमिया बात कही। भीतर से होश रखना फिर तुम भटक न सकोगे। अन्यथा बाहर से तो आँखें बंद कर लोगे और भीतर कलुषता आती रहेगी। आनन्द भगवान द्वारा दिए गए होश के दीपक को लेकर रवाना हो गया बिना कोई प्रतिप्रश्न किये।

यदि होश का दीपक साथ है तो जीवन में कितनी ही विषमताएँ आएँ, दुर्व्यसन हों, दुर्घटनाएँ घटित हों सब पीछे छूट जाएँगे। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार, किसी बेहोश व्यक्ति के हाथों हिंसा न होने पर भी वह हिंसा का भागी बन जाता है लेकिन

होशवान के पैरों तले चींटी भी आ जाती है, तो वह हिंसा का पात्र नहीं होता। बेहोशी और होश का फ़र्क़ देखिए, दो चदरिया हैं – एक साफ़ सूखी हुई और दूसरी चिकनी। दोनों चदरिया मिट्टी, बालू के टीले पर रख दीजिए। दोनों बालू को पकड़ेंगी लेकिन चिकनी चदरिया को आप कितना भी झटकें वे कण वापस उतरने वाले नहीं। चिपके ही रहेंगे। दूसरी सूखी चदरिया को चाहे जितना धूल कणों से भर दो, टीले पर रगड़ दो लेकिन जैसे ही एक झटका दोगे सारे कण नीचे गिर जायेंगे।

होशवान व्यक्ति के जीवन में बालू के कण आयेंगे। वह एक झटका देगा और सब कण नीचे आ जायेंगे। मेरा आपसे यही कहना है कि चदरिया सूखी रखो और बालू में भी रहो पर होशपूर्वक। होश हो, तो कर्म की धूल उड़ेगी लेकिन वह बिल्कुल वैसी ही होगी जैसे सुखी चदरिया पर रेत का लगना है। जीवन के लिए बस इतना ही काफी है कि होश हो। साधक को दिन में ही होश रहे इतना ही नहीं वरन् नींद में भी होश बने रहना चाहिये। ठीक वैसे ही जैसे भारंड पक्षी होता है। एक देह दो मुँह। एक सोता है तो दूसरा पहरा देता है और जब दूसरा सोता है, तो पहला जागृत रहता है। होशपूर्वक जीने की कला अपनानी चाहिये। साधना की मूल पृष्ठभूमि होश ही है। मन की उच्छृंखल वृत्तियों पर अपना अंकुश और स्वामित्व बनाये रखने के लिए होश बेहिसाब लाजिमी है। चेतना को होश चाहिये, होश हो तो चेतना का फूल सदा खिलखिलाये रहता है। महकता-महकाता रहता है। एक ऐसी आवाज़ है जो अन्तर के नासापुटों को सदा आह्लादित करती है, प्रमुदित करती है।





साक्षी की सजगता

संत नागार्जुन किसी सम्राट के महल में भोजन के लिए आमंत्रित हुए। नागार्जुन अपना मिट्टी का पात्र साथ लिए राजमहल में पहुँचे। रानी ने संत को भोजन करवाया। उसके मन में विचार आया, नागार्जुन इतने महान संत हैं और वे मिट्टी का पात्र रखें, यह अनुचित है। रानी ने अपने पास से रत्नजड़ित स्वर्ण-पात्र उन्हें भेंट में दे दिया। नागार्जुन ने वह पात्र ले लिया। रानी ने सोचा था नागार्जुन संत हैं, यह पात्र लेने से इन्कार कर देंगे। पर यह क्या; रानी ने दिया, नागार्जुन ने बगैर आग्रह स्वीकार कर लिया?

संत रवाना होने लगे। रानी से रहा न गया, उसने सोचा यह कैसा फ़कीर है। इसने एक बार भी इन्कार न किया। मेरे महल में एकमात्र रत्नजड़ित स्वर्ण-पात्र है। मैंने तो सिर्फ मनुहार की थी और इन्होंने तो स्वीकार ही कर लिया।

रानी ने कहा, संत साहब! आप जानते हैं यह पात्र रत्नजड़ित स्वर्ण का है। संत मुस्कराए, कहने लगे, 'रानी! तुम्हारी नज़र में यह भले ही रत्नजड़ित सोने का पात्र हो लेकिन मेरे लिए तो स्वर्ण और मिट्टी के पात्र में कोई अन्तर नहीं है। वह काली मिट्टी का पात्र था तो यह चमकीली मिट्टी का पात्र है।'

रानी संकोचवशात् कुछ बोल नहीं पाई और संत उस पात्र को लेकर चले गये। लाखों का पात्र था वह। संत उसी में भिक्षाटन करने लगे। एक दिन एक चोर की नज़र

उस पर पड़ गई। उसने सोचा, यह निर्वस्त्र फ़कीर, इसके हाथ में यह रत्नजड़ा पात्र कहाँ से आ गया। यह तो माँग कर खा रहा है, वह भी स्वर्ण-पात्र में। चोर ने फ़कीर का पीछा करना शुरू किया। दोपहर का समय था, नागार्जुन अपनी कुटिया की ओर जा रहे थे। उन्हें शक हो गया कि यह आदमी, जो पीछे आ रहा है, इसकी नीयत ठीक नहीं है।

नागार्जुन अपनी कुटिया में चले गए और चोर कुटिया के पीछे छिपकर बैठ गया। उसने सोचा, जब यह संत फ़कीर सो जाएगा, तब मैं पात्र उठाकर ले जाऊँगा। नागार्जुन को भी विचार आया कि अवश्य ही यह आदमी इस पात्र को लेने आया है। बेचारा नाहक ही दो घंटे प्रतीक्षा करेगा। क्यों न खुद ही उसके लिए इस पात्र का त्याग कर दूँ। उन्होंने वह पात्र उठाया और खिड़की से नीचे गिरा दिया। चोर भौंचक्का रह गया। सोचने लगा मैं तो इसे चुराने के लिए संत के पीछे-पीछे आया था और इन्होंने इतनी निस्पृहता से इसे बाहर फेंक दिया। जरूर कोई खास बात है। वह कुटिया के दरवाजे पर पहुँचा और पूछा, फ़कीर साहब! क्या मैं भीतर आ सकता हूँ, संत ने कहा, 'मैंने तुम्हें भीतर बुलाने के लिये ही यह पात्र बाहर फेंका था। मैं नहीं चाहता था कि जब मैं सोया हुआ होऊँ, तब तुम कुटिया में आओ। मैं जागा रहने पर तुम्हें कुटिया में देखना चाहता था।'

वह चोर नागार्जुन के पैरों में गिर पड़ा, कहने लगा। आप धन्य हैं। आपने सोने के पात्र को ऐसे फेंक दिया जैसे यह मिट्टी का पात्र हो।

सोना और माटी! जहाँ कोई माटी का बर्तन छोड़ने को तैयार नहीं होता, वहाँ नागार्जुन सोने का पात्र बेझिझक गिरा देते हैं। ठीक वैसे ही जैसे पेड़ पत्तों को झाड़ देता है।

हमारे पास लाखों रुपये हो सकते हैं, पर नागार्जुन जैसी अनासक्ति नहीं है। बुद्ध जैसी शांति नहीं है। अकूत सम्पत्ति के स्वामी हो पर लाओत्से जैसा आनन्द अभी हमारे पास नहीं है। किसी फैक्ट्री के मालिक भी हो पर कृष्ण की बाँसुरी से निःसृत होने वाला रस हमारे पास नहीं है। हम आनन्द लूटना नहीं जानते हैं। प्रकृति ने तो हमें बहुत कुछ दिया। महावीर तो निर्वस्त्र होकर जंगलों में भी जीवन का आनन्द ले सकते हैं और लोग सारी सुख-सुविधाओं के बीच भी जीवन का आनन्द नहीं ले पाते।

सुख प्राप्त कर सकते हो, दुःखी हो सकते हो, लेकिन आनन्द का अनुभव नहीं कर पाते हो। अनेकों बार जीवन में सुख-दुःख की अनुभूति होती है लेकिन आनन्द से अछूते रह जाते हो। सुख-दुःख की अनुभूति देह, चित्त और मन को होती है लेकिन आनन्द की अनुभूति, यह तो आत्मा का स्वभाव है। आप राजमहल में रहकर

सुखी हो सकते हैं, सड़क पर दुःख पा सकते हैं लेकिन भीतर का आनन्द प्राप्त करने पर आप राजमहल और सड़क दोनों जगह प्रसन्न रह सकते हैं। जब आनन्द हमारा स्वभाव बन जाएगा तब हम धन कमाएँ या गँवाएँ, सुखी ही रहेंगे।

आज मनुष्य की हालत गम्भीर होती जा रही है। एक गहरा सन्नाटा छा गया है अंतरात्मा में। भीतर के अस्तित्व में न कोई स्वर बचा है, न अहोभाव का संगीत। भीतर के गीतों की, आनन्द, उत्सव और धन्यता की हत्या हो गयी है। जिस घड़े में अमृत होना था बदनसीबी से आज उसमें जहर भरा है। जहाँ सोना होना था जहाँ राख उड़ रही है। अस्तित्व में आए तब फूलों की संभावनाएँ लेकर आए थे लेकिन अब खुद ही काँटे बन गये हैं।

आपने देखा, रोज सुबह सूर्य कितना प्रसन्नमुख उदित होता है, फूल कितने पुलकित भाव से खिलते हैं, पक्षियों की चहचहाट कितनी प्रसन्नता से होती है। पर मनुष्य! उदासी भरे क्षणों में उसकी सुबह होती है। रात-भर विश्राम मिला इसलिए सुबह चेतना को और अधिक प्रफुल्लित, सशक्त होना चाहिये, पर यहाँ तो उल्टी गाड़ी चलने लग गयी है। किसी घर में जाकर देखो, लोग सात-आठ-नौ बजे तक तो सोये मिलेंगे। फिर जैसे-तैसे उनकी आँख खुलवाओ तो लगेगा जैसे किसी मूर्च्छित को उठा रहे हैं, ऐसी उदासी। बिस्तर से उठाओ तो सोफे पर जाकर गर्दन झुका लेंगे, वहाँ से उठाओ तो कहीं और। मेरे प्रभु, जो समय प्रकृति से अपूर्व आनन्द पाने का था, आत्मोत्सव मनाने का था, उस समय हम सोये रह गये, उदास और हताश बन रह गये।

पता है इस ध्यान-शिविर की अभी पूरे शहर में चर्चा है। अगर इसका समय बदल दूँ तो यहाँ हजार लोग इकट्ठे हो जाएँगे। मैंने इसीलिए सुबह छह बजे का समय रखा ताकि वे लोग ही आएँ, जो सुबह जागे-जागे जीवन का आनन्द पाना चाहते हैं। अब वे लोग अपने जीवन को आनन्दपूर्ण कैसे कर पाएँगे, जो भोर होने पर भी सोये हैं। आप यहाँ जब प्रातःकाल में ध्यान में डूबकर अपनी चेतना को जगा रहे होते हैं, जीवन के अपूर्व आनन्द में डूब रहे होते हैं, तब भी शहर के आधे लोग सोये-सोये खरटे भर रहे होते हैं। फिर भी मैं प्रसन्न हूँ, इस सोयी हुई दुनिया में कुछ लोग तो जगे स्वयं को आत्मसात करने के लिए।

आदमी सब कुछ पाकर भी खाली ही जी रहा है। कहीं कोई उमंग नहीं है, तरंग नहीं है उसमें अपने जीवन के प्रति। जिसने निजानन्द स्वरूप को पहचान लिया, उसके जीवन का मरुस्थल भी मरुद्धान बन जाता है, उपवन हो जाता है। भीतर का स्रोत उमड़ आता है। फूल खिल उठते हैं। एक साथ होली और दीवाली हो जाती है।

आपने देखा, इस धरती पर सब खाली हाथ आते हैं और खाली हाथ ही चले जाते हैं पर बीच में कितना शोरगुल कर जाते हैं। कितने उपद्रव, कितनी झंझटें, यहाँ कुछ भी तुम्हारा नहीं है, फिर भी लाख झंझटें तुमने मोल ले ली हैं। जो धन तुम्हारे पास नहीं है, वह तो पराया है ही, पर वह भी तो पराया है जिस पर तुम अपनी मालकियत की मोहर लगाए बैठे हो। कहीं और से तुम्हारे पास आया और एक दिन कहीं चला जाएगा। तुम सिर्फ नाम भर के मालिक हो।

कहते हैं किसी व्यक्ति ने अपने विवाह की पहली वर्षगाँठ पर मित्रों को पार्टी दी। मेजें सज गईं, थालियाँ लग गयीं। तभी पत्नी ने कहा, 'जी! अन्दर आपकी संदूक में जो चाँदी के चम्मच हैं, आज उन्हें बाहर ले आइये। आपके मित्रों को उसी से भोजन करवाएँगे।'

पति ने कहा, 'नहीं! यह तो किसी भी स्थिति में सम्भव नहीं है।'

पत्नी ने कहा, 'क्या आपको अपने मित्रों पर इतना भी भरोसा नहीं है, कौन से वे आपके चम्मच चुरा कर ले जाएँगे!'

पति मुस्कराया, कहने लगा, 'चुराकर तो नहीं ले जाएँगे, पर पहचान ज़रूर जाएँगे।'

तुम्हारी हालत भी इससे मिलती-जुलती ही है। इसलिए ज़िंदगी भारभूत बनी हुई है। ज़िंदगी में कई भार निरर्थक ढो रहे हो, उन्हें हल्का करो और भार-मुक्त हो जाओ। अन्यथा दिन में भोजन और रात में नींद भी हराम हो जाएगी। बहुत से लोग ऐसे हैं जो सोने के लिए नींद की गोलियाँ ले रहे हैं। अथाह सम्पत्ति है फिर भी सो नहीं पा रहे हैं। उनसे पूछो वे ज़िंदगी की कौन-सी सार्थकता को जी रहे हैं। सुख से नींद भी नहीं ले पा रहे हो शेष बात तो बहुत दूर है। फुटपाथ पर सोने वाले भिखारी को नींद की गोलियाँ खाते हुए देखा है?

सुख और दुःख की अनुभूति में आत्मा का कोई सरोकार नहीं है। सुखी और दुःखी होना हम पर निर्भर है। एक दम्पति मेरे पास आए। बातों ही बातों में पत्नी कहने लगी, मेरे पति बहुत दुःखी हैं। कोई उपाय कीजिये। मैंने उनसे दुःख का कारण जानना चाहा क्योंकि मुझे पता था उनका अच्छा व्यवसाय है, लड़के हैं, मकान है, कार है, फिर दुःख का कारण? वे महानुभाव कहने लगे, मैंने पिछले वर्ष दस लाख कमाए थे पर इस साल पाँच लाख कमाए, अब उसे इस बात का ग़म है कि पाँच लाख कम कमाए।

तुम तीन मंज़िल के मकान में रहकर सुखी भी हो सकते हो और दुःखी भी।

जब-जब सात मंजिल के मकान को देखते हो भीतर में दुःख पैदा होगा कि ओह इसे तो सात मंजिल का मकान मिला है। लेकिन वही दुःख-सुख में बदल जाएगा जब पड़ौस की झोंपड़ी को देखोगे। तुम कहोगे ऊपर वाले ने मुझे तो तीन मंजिल का मकान दिया है पर इसे तो मात्र टूटी-फूटी झोंपड़ी। यह मनुष्य के ऊपर है कि किसी दृश्य को देखकर वह सुख उत्पन्न करना चाहता है या दुःख। कुछ भी पता नहीं चलता कि वह क्या चाहता है। कभी वह चीज़ सुख बन जाती है और कभी दुःख। चीज़ न आती है न जाती है, लेकिन विचारों के माध्यम से सुख-दुःख का कारण बन जाती है।

तुम लॉटरी का टिकट खरीदते हो। दूसरे दिन पाते हो कि समाचार-पत्र में वही टिकट नम्बर छपा है। एक लाख का पुरस्कार तुम्हें मिल गया है। तुम अपने मित्रों, परिचितों, परिवारजनों को आमंत्रित करते हो और एक रात्रिभोज का आयोजन कर लेते हो। पाँच हजार रुपये खर्च कर डालते हो। अगले दिन समाचार : पत्र में विज्ञापन पढ़ते हो कल के विज्ञापन में भूलवश गलत नम्बर छप गया। अब वही व्यक्ति छाती-पीटने लगा। न तो रुपए आए, न रुपए गए। लेकिन उस नम्बर ने हमारे भीतर खुशियाँ भी पैदा कर दीं और उसी नम्बर ने दुःख भी पैदा कर दिया। सुख और दुःख प्रायः बाहर के निमित्त से आते हैं जबकि भीतर का आनन्द किसी निमित्त से नहीं, अन्दर के स्वभाव से निपजता है।

मैं आपसे कहना चाहता हूँ आप सुख पाने की न सोचें। जीवन में आनन्द और उत्सव को उपलब्ध करने का लक्ष्य रखें। जहाँ सुख होगा वहाँ दुःख भी होगा। सुख और दुःख एक सिक्के के दो पहलू हैं लेकिन आनन्द चिरस्थायी है, वह कभी दुःख में परिणित नहीं हो सकता। जब व्यक्ति के भीतर यह भाव आता है कि मैं साक्षीभाव में, दृष्टा-भाव में जी रहा हूँ तब वह आनन्द की अनुभूति कर सकता है। इसे ऐसे अनुभव करें - जब शरीर पर कोई फोड़ा हो जाए, बहुत पीड़ा दे रहा है लेकिन उस पीड़ा को देख-देखकर आप अपने मन में यह भाव परिपक्व कर लें कि यह शरीर मेरा नहीं है, यह फोड़ा मेरा नहीं है, फिर इस देह में होने वाली पीड़ा की अनुभूति मुझे क्यों हो रही है। बार-बार इस तत्त्व का चिंतन करते रहो, पीड़ा को बाहर निकालते रहो तब हमें दर्द की अनुभूति नहीं होगी। मैंने ऐसे लोगों को देखा है। आपने नाम सुना होगा साध्वी विचक्षणश्री जी का, जिन्हें स्तन का कैंसर हो गया था, लेकिन उनके मुँह से ऊफ तक नहीं सुनी गई। ऐसा नहीं कि वहाँ दर्द नहीं था, दर्द था। शरीर का स्वभाव अपना काम कर रहा था लेकिन उन्होंने आत्मा का स्वभाव पहचान लिया था। वह आत्मा शरीर के स्वभाव से मुक्त हो गई। जिन लोगों ने उस साध्वी को देखा है वे जानते हैं कि उस कैंसर की गाँठ में खून रिसता था, मवाद बहकर आता रहता था और

वे आराम से आपसे बातें करती थीं। हालत यह थी कि कोई उनके दर्शन को जाता तो कभी-कभी उन्हीं से पूछ लेता यहाँ ऐसी कौनसी साध्वीजी हैं जिन्हें कैंसर हो गया है। चेहरे पर सहज सौम्यता!

जब व्यक्ति आत्मा के आनन्द को पहचान लेता है, अपने मूल अस्तित्व को पहचान लेता है तब देह के साथ होने वाली पीड़ा की अनुभूति नहीं हो पाती। हमारे साथ तो उल्टा हो रहा है। हमने देह को ही आत्मा मान लिया है। देह में ही आत्मा का भाव पैदा कर लिया है। हमारी सारी प्रवृत्तियाँ देह के साथ जुड़ गई हैं। कोई भी व्यक्ति देह से निवृत्त होकर आत्मा में प्रवृत्त नहीं हो पाता। मनुष्य शरीर को ही आत्मा और आत्मा को ही शरीर मान लेता है। जबकि दोनों का भेद स्पष्ट है कि आत्मा शरीर में रहते हुए भी शरीर से अलग है। रथ पर बैठे रथिक की तरह।

आपने नारियल देखा है। जब तक नारियल के भीतर पानी होता है उसे हिलाओ केवल पानी की आवाज़ आती है, जब नारियल का पानी सूख जाता है उसे हिलाओ तो नारियल के गोले की आवाज़ आती है। कुछ समय पहले यह आवाज़ नहीं आ रही थी। जब पानी सूख गया और अन्दर का भाग ठीकरी से अलग हो गया तो गोले की आवाज़ आने लगी। नारियल में तीन चीज़ें हैं - ऊपर की जटा, नीचे लकड़ी, उसके भीतर नारियल। तीनों एक-दूसरे से जुड़े हैं। जैसे नारियल के भीतर रहते हुए भी नारियल का गोटा अलग रहता है उसी तरह जिस व्यक्ति ने आत्म-बोध प्राप्त कर लिया है, वह शरीर में रहते हुए भी शरीर से पूर्णतया मुक्त और स्वतंत्र रहता है। जो आत्मलीन हो चुका है, आत्मा के सहज स्वभाव को पहचान चुका है, वह चाहे जिन स्थितियों में रहे स्वयं को सबसे अलग महसूस कर सकता है। यही तो भेद-विज्ञान की उपलब्धि है।

बताते हैं, करीब सत्तर वर्ष पूर्व काशी नरेश का ऑपरेशन हुआ। विदेशों से डॉक्टर आए थे। उन्होंने डॉक्टरों से कहा, मैं ऑपरेशन कराने को तैयार हूँ पर मुझे बेहोश नहीं करोगे। 'नरेश! आप कैसी बात करते हैं बिना बेहोश किए कभी ऑपरेशन हुए हैं।' काशी नरेश मुस्कराए और कहने लगे, 'डॉक्टर इतने वर्ष साधना के पश्चात् थोड़ा-सा होश आया है और तुम होश को बेहोशी में बदलना चाहते हो। मुझे गीता लाकर दे दो, मैं उसे पढ़ता रहूँगा, अपने में लीन हो जाऊँगा फिर तुम्हें जो ऑपरेशन करना हो कर लेना। मैं जब गीता पढ़ता हूँ मेरी देह का स्वभाव मुझसे अलग हो जाता है। मैं देह से उपरत हो गीता से जुड़ जाता हूँ।'

आखिर काशी नरेश का ऑपरेशन बिना बेहोशी की दवा दिए ही हुआ। वे गीता पढ़ते रहे और ऑपरेशन हो गया। डॉक्टर ने उन्हें हिलाया, वे हिल नहीं पा रहे थे। वे

गीता में इतने तन्मय हो गए थे। जब गीता के अठारह अध्याय पूर्ण हो गए, तब नरेश ने डॉक्टरों से पूछा, 'डॉक्टर! मेरा ऑपरेशन हो गया?'

व्यक्ति ने देह और आत्मा के स्वभाव को पहचान लिया और अपने स्वभाव को पहचान लेने पर हड्डी भी टूट जाए तो तकलीफ नहीं होती।

बहुधा ऐसा होता है, जब हम इंजेक्शन भी लगवाते हैं, तो एक टीस-सी होती है, चीख निकल जाती है। आज मैं फिर आपसे कहूँगा कल को जब आप इंजेक्शन लगवा रहे हों उससे पहले संकल्प कर लें, यह देह को लग रहा है, मुझे नहीं लग रहा है। मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ आपको अहसास भी नहीं होगा। आप रोज प्रार्थना में गाते हैं -

देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत।

ते ज्ञानी ना चरण मां, हों वंदन अगणीत।

जिस व्यक्ति ने शरीर में रहते हुए शरीर के स्वभाव को पहचान लिया है, वही व्यक्ति साधना के मार्ग पर कदम बढ़ा सकता है।

यह मुक्ति का स्वरूप है कि जो शरीर में रहते हुए भी स्वयं को शरीर से उपरत कर चुका है। देह में रहते हुए देह से ऊपर उठना, कीचड़ में रहते हुए कीचड़ से ऊपर उठना, यही तो साधना की पराकाष्ठा है।

एक बात और कहना चाहता हूँ कि हमारा अंधकार से लड़ने का जो स्वभाव बन गया है उसे भी बदलना होगा। आप कमरे में गए, जहाँ अंधकार ही अंधकार है। अब आपने इसे लाठियों से पीटना शुरू कर दिया। आप रात भर अंधकार को पीटते रहो, पर यह कभी भी दूर न होगा। अंधकार को भगाने के लिए अंधकार को दबाना नहीं है। अंधकार को मिटाने के लिये पहली शर्त प्रकाश की एक किरण पैदा कर दो। आप अंधकार से जूझते रहेंगे पर इससे मुक्त नहीं हो पाएँगे। तुम जीवन भर दुर्व्यसनों से, कषायवृत्तियों से, लालसाओं से, सम्मोहन से जूझते रहोगे पर इनसे मुक्त नहीं हो पाओगे। अरे, अंधकार से लड़ाई करके किसी ने उस पर विजय प्राप्त की है। एक दियासलाई जलाओ, एक प्रकाश की किरण, एक दीपशिखा ही सारे अंधकार को दूर करने को पर्याप्त है। अंधकार को समाप्त करने के लिए अंधकार से जूझने की ज़रूरत नहीं है। प्रकाश का बोध पाने की ज़रूरत है। एक वृक्ष से लाखों तीलियाँ बनती हैं लेकिन एक तीली में वह क्षमता है जो लाखों वृक्षों को जला सकती है। प्रकाश की एक रेखा सारे अंधकार को दूर कर सकती है।

अब यह हमारे हाथ में है कि हम दियासलाई का क्या उपयोग करते हैं। उससे

दूसरों के घरों में आग लगाते हैं या अंधकार मिटाते हैं। प्रकृति ने औढरदानी बनकर मनुष्य को अपार क्षमताएँ दी हैं। यह मनुष्य पर है कि इन क्षमताओं का वह दुरुपयोग करता है या सदुपयोग।

आणविक शक्ति का उपयोग सृजन के लिए करते हो या विध्वंस के लिए यह आप पर निर्भर है। आणविक क्षमता स्वयं न तो सृजन करती है न विध्वंस। विज्ञान ने जितनी भी प्रगति की है, प्रत्येक से हम सृजन और विध्वंस दोनों ही कर सकते हैं। हमारे हाथ में तलवार है अब यह हम पर है कि इसका उपयोग हम किसी को मारने में करते हैं या बचाने में। हम अपनी शक्तियों का सृजनात्मक और विध्वंसात्मक दोनों उपयोग कर सकते हैं। एक बात स्मरण रखिए जो व्यक्ति सृजन में अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं कर पाता वह विध्वंस में उपयोग करता है। गाँधी जैसा व्यक्ति उस शक्ति को सृजन में लगाएगा और हिटलर जैसा व्यक्ति विनाश-विध्वंस ही करेगा। मेरे देखे, बहुआ व्यक्ति अपनी शक्ति का दुरुपयोग ही करत है।

विज्ञान कहता है, मनुष्य अगर एक बार क्रोध करता है तो दिन भर की ऊर्जा नष्ट हो जाती है। जिस सृजन की क्षमता से हम गीत बना सकते थे, हमने गालियाँ बनाईं। आप सभी लोग क्षमता के धनी हैं। अब आप क्षमता का उपयोग क्षमा के लिए करते हैं या क्रोध के लिए, यह आप पर निर्भर है। जीवन में जितनी भी क्षमताएँ हैं सबका उपयोग बोधपूर्वक करो। सृजन करो तो भी होश से और विध्वंस करो तो भी बोधपूर्वक होना चाहिए। हमारे गाल पर मक्खी बैठी है और हमने हाथ से चाँटा लगाकर उसे उड़ा दिया तो हम दोष के भागी हो गए। मक्खी को चोट नहीं लगी पर हमने बेहोशी से हाथ उठाया। यह बात गौण है मक्खी को चोट लगी या नहीं, मुख्य तो यह है कि हमने बेहोशी से हाथ उठाया। बोधपूर्वक ध्यानपूर्वक हाथ उठाते-उठाते अगर मक्खी को चोट भी लग जाए तो हम दोष के भागी नहीं हो सकते।

क्रोध भी होश से करो। और जैसे ही बोध जगेगा, आप क्रोध नहीं कर पाएँगे, किसी को अपशब्द नहीं कह सकेंगे।

एक सज्जन मुझे कहने लगे कि उन्हें क्रोध बहुत आता है, कोई उपाय बताइये। एक बात तय है कि मनुष्य अपरिमित क्षमता का स्वामी है, नहीं तो जोर की आवाज़ कहाँ से आती। हाथ-पैर कैसे पछाड़ता। चीख-चिल्लाहट कैसे करता। यह अलग बात है कि उसे अपनी क्षमता का बोध नहीं है। इसलिए इन क्षमताओं का दुरुपयोग हो रहा है। वह व्यक्ति क्रोध को मिटाने का उपाय पूछ रहा था। मेरे पास एक कागज का टुकड़ा था। मैंने उस पर लिखकर दिया, 'मुझे क्रोध आ रहा है।' मैंने उससे कहा इसे अपनी जेब में रखो और जब भी क्रोध आए, इस चिट को निकालकर पढ़ना।

जैसे ही पढ़ोगे तुम्हें बोध हो जाएगा, होश आ जाएगा और बोध के साथ कभी कोई क्रोध या अशुभ कृत्य करने की वेला भी आ जाए तो अपने बोध को जीवित रखो।

मेरी नज़र में वही व्यक्ति चारित्रवान और समाधिस्थ है जिसका जीवन, जीवन के सारे व्यवहार अमूर्च्छित हैं, होशपूर्ण हैं। इसलिए मैं तो कहता हूँ, जो व्यक्ति जितना होशपूर्वक जीता हो, उतना ही उसके जीवन में दूसरों को सताने के, दुःखी करने के मौके कम आएँगे। अगर आप बोधपूर्वक, पल-प्रतिपल जागरूकता के साथ जीना शुरू कर दें, तो आपके जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन होना शुरू हो जाएगा। आपके लिए क्रोध करना मुश्किल हो जाएगा। क्रोध के लिए, हिंसा के लिए, चोरी के लिए बेहोश होना ज़रूरी है। यह अनिवार्य लक्षण है।

लोग मुझे पूछते हैं आपको क्रोध क्यों नहीं आता? कुछ लोगों को तो इस बात को लेकर आश्चर्य है कि कोई आपको कटु कहे जा रहा है और आप वही प्रसन्न मुख हैं। मेरे प्रभु, क्षमा करें मैं क्रोध नहीं कर सकता। क्रोध करूँगा तभी जब मैं बेहोश हो जाऊँगा। और मैं अमूर्च्छित व्यवहार को चारित्र का बुनियादी लक्षण मानता हूँ।

मुझे याद है लाओत्से चीन में थे। चीन के सम्राट ने, जिसकी राजसभा के मंत्री की मृत्यु हो गई थी, सभा बुलाई और पूछा, इस देश में सबसे बुद्धिमान व्यक्ति कौन है, जिसे मैं अपना मंत्री बना सकूँ? सभी ने सलाह दी, वर्तमान में तो सबसे अधिक बुद्धिमान लाओत्से है। सम्राट ने कहा, लाओत्से को लाया जाए। वह जहाँ भी है, उसे यहाँ लाया जाए। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते सेनापति समुद्र किनारे पहुँच गया, जहाँ जाओत्से एक कछुए को इधर-उधर घुमा रहे थे। सेनापति ने लाओत्से से कहा, तुम यहाँ मिट्टी से खेल रहे हो, छोड़ो कछुए को, चलो राजमहल में, चीन का सम्राट तुम्हें प्रधानमंत्री बनाना चाहता है। उठो, मेरे साथ चलो।

लाओत्से मुस्कराए और कहने लगे, सेनापति मुझे एक बात कहो, राजमहल में राजसिंहासन के पीछे एक कछुआ है, जो स्वर्ण-पत्र से मंडित है, मेरे पास भी एक कछुआ है, इससे पूछो क्या यह भी राजसिंहासन के पास स्वर्ण-मंडित होकर रहना चाहेगा। सेनापति ने कहा, यह वहाँ नहीं जाना चाहेगा क्योंकि सोने की परत चढ़ाने के लिए पहले कछुए को मारना पड़ता है। वहाँ भी जो कछुआ स्वर्ण-पत्र चढ़ा हुआ है वह भी मृत है। लाओत्से ने कहा, मुझे बताओ मैं अपने जीवन में, जीवन की तलाश में हूँ, या मृत्यु की तलाश है मुझे। हो सकता है राजमहल में पहुँचकर मुझ पर सोने की पर्तें भी चढ़ जाएँ। पर जैसे यह कछुआ राजमहल में नहीं जाना चाहता वैसे ही मैं भी यहाँ स्वतंत्र जीना चाहता हूँ।

लाओत्से! तुम यह क्या कह रहे हो, सेनापति बोला, तुम्हारे जीवन में यह प्रथम

अवसर आया है, चीन का सम्राट तुम्हें प्रधानमंत्री बनाना चाहता है। यह असंभव कार्य संभव हो रहा है, तुम तैयार हो जाओ। लाओत्से हँसे, कहने लगे, सेनापति! सम्राट से जाकर कह दो कि लाओत्से जीवन की तलाश में निकला है मृत्यु की नहीं। जिस दिन उसकी मृत्यु की इच्छा हो जाएगी, वह खुद ही तुम्हारे राजमहल में पहुँच जाएगा।

हमारे साथ भी यही घटित हो रहा है, तलाश तो हम जीवन की कर रहे हैं। हमारे भीतर भावनाएँ जीवन की हैं, पर हमारे कदम निरंतर मृत्यु की ओर बढ़ते चले जा रहे हैं, देह जर्जर हो रही है। क्षण-प्रतिक्षण मृत्यु की ओर जा रहे हैं। आज तक कोई भी वह तारीख नहीं बता पाया, जब उसके सिर के बाल सफेद हो गए। उसकी कमर झुक गयी, दाँत टूट गये, झुर्रियाँ पड़ गईं, कोई नहीं बता सकता यह सब कब और कैसे हुआ। बस हो गया। तुम्हारी उम्र चुक रही है। कल तुम बच्चे थे, आज युवा हो गए हो, कल वृद्ध हो जाओगे लेकिन किसी भी दिन इस परिवर्तन को नहीं जान पाओगे। मनुष्य रोज अपना चेहरा आइने में देखता है फिर भी यह बोध नहीं होता कि मेरी देह, मेरा चेहरा, क्षण-प्रतिक्षण जर्जर होता जा रहा है।

समय स्थिर नहीं रहता। ज़वानी बुढ़ापे में बदल जाती है। ज़वानी कभी लौटकर नहीं आती और आया हुआ बुढ़ापा कभी छूटकर नहीं जाता। कभी तुम दस वर्ष के थे आज सत्तर वर्ष के हो लेकिन अब भी अबोध हो, देखते हो, एक पचास वर्ष का व्यक्ति अपने बेटे का बचाव करते हुए कहता है यह अबोध है, गलती हो गई। पर पता है, कौन अधिक अ-बोध है? मैं आपसे यही कहना चाहता हूँ हम चाहे जो करें पर बोध के साथ करें, जागरूकता के साथ करें।

जागरूकता के साथ कदम बढ़ाने पर भीतर से हम पूरी तरह से निर्लिप्त रहेंगे। कर्म करते जाओ लेकिन कर्तव्य-भाव से दूर रहो। कर्ता-भाव से अलग रहो। जीवन में जो कुछ आ रहा है पीछे लौटने को है। प्रत्येक वर्तमान अतीत में बदल जाता है, आज कल में ढल रहा है, जब प्रत्येक क्षण पीछे छूट रहा है, तब जरा सोचो, जीवन में बोध और जागरूकता के भाव कैसे उत्पन्न हों। जो आया है सब पीछे जा रहा है, कुछ भी तुम्हारे पास स्थाई रूप से नहीं बचा है। हर घड़ी बीतती जा रही है। अगर मनुष्य ईमानदारी से जान जाए कि मुझे जो कुछ मिला है वह सब छूट रहा है, समाप्त हो रहा है तो वह कभी कर्तव्य-भाव में जीने का प्रयास नहीं करेगा। हमेशा साक्षी-भाव में जीएगा।

कर्म करना धर्म है, लेकिन मैं और मेरा जोड़ना जीवन को अहंकार से भी लेना है, स्वार्थपरक हो जाना है। इन दोनों को छोड़ देने पर जीवन में जो भी घटित होगा

तुम्हें प्रभावित नहीं करेगा। यदि सुख में जी रहे हो, तो यह भी बीत जाएगा और यदि दुःख में जी रहे हो तो यह भी। दुःख और सुख दोनों बीत जाएँगे पर इनके साथ कहीं तुम भी मत बीत जाना।

मुझे याद है, एक फ़कीर किसी सम्राट के पास पहुँचा। सम्राट ने कहा, फ़कीर! तुम मुझे ऐसी चीज़ देकर जाओ, कोई एक ऐसा मंत्र, एक ऐसी शिक्षा कि जिसे पाने के बाद जीवन में कुछ पाना शेष न रहे। फ़कीर ने अपनी अँगुली में से अँगूठी निकाली और सम्राट को दे दी। कहा - 'सम्राट यही तुम्हारे लिए शास्त्र बनेगा, जीवन का मंत्र बनेगा और दुनिया का महान् संदेश बनेगा। सम्राट, इस अँगूठी के ऊपर जड़े रत्न के नीचे मैंने एक शिक्षा लिखी है पर सावधान! जब जीवन की विकटतम वेला आ जाए, तभी इस रत्न को निकालकर अंदर लिखे हुए मंत्र को पढ़ लेना।' फ़कीर चला गया, पर सम्राट के मन में हर समय कुतूहल रहता कि आखिर इसमें लिखा क्या है? पर फ़कीर की बात याद आ जाती और सम्राट रुक जाता। कुछ वर्ष बीत गए। पड़ोसी राजा ने उसके राज्य पर हमला कर दिया। सम्राट युद्ध में पराजित हो गया। अपने बचे-खुचे सैनिकों को लेकर वह भाग निकला, दुश्मनों की सेना उसका पीछा करती आ रही थी। धीरे-धीरे सारे सैनिक भी पीछे छूट गए। सम्राट अकेला भागता चला आ रही था। एक अवसर ऐसा आया कि आगे रास्ता भी दिखाई नहीं दे रहा था। वह पहाड़ी रास्तों में फँस गया। आगे रास्ता बंद, अब घोड़ा भी आगे नहीं जा सकता। सम्राट वहीं घोड़े से उतर कर बैठ गया। दुश्मन के घोड़ों की टप-टप की ध्वनि आ रही थी। सम्राट ने सोचा, दुश्मन आ पहुँचे हैं और अब मेरा बचना मुश्किल है। तभी उसे फ़कीर की वह बात याद आ गई, 'जीवन की विकटतम वेला में रत्न को निकालकर अंदर लिखे मंत्र को पढ़ लेना।'

सम्राट ने वह रत्न अँगूठी में से बाहर निकाला। भीतर एक कागज का टुकड़ा निकला। सम्राट ने खोला, पढ़ा 'दिस टू विल पास' - यह भी बीत जाएगा। और सम्राट के भीतर चेतना जाग गई। उसे कुछ ढाढ़स मिला। कुछ देर में ही जो घोड़ों की पगध्वनि आ रही थी बंद हो गई। चैन की साँस ली, उसने साहस बटोरा, संकल्प लिया। अपने मित्रों को एकत्र कर सेना गठित की। पुनः अपने राज्य पर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। सिंहासन पर बैठा। बहुत प्रसन्न था, गौरवान्वित था, चारों ओर खुशियाँ मनाई जा रही थीं। इसी प्रसन्नता के बीच अचानक सम्राट को फ़कीर का मंत्र याद आ गया। 'दिस टू विल पास।' सम्राट उदास हो गया। मंत्री ने पूछा, राज्याभिषेक के समय आपके चेहरे पर उदासी! सम्राट ने वह कागज का टुकड़ा उठाया और कहने लगे, यह भी बीत जाएगा। जब बुरा वक्त निकल गया तो यह अच्छा वक्त भी कब तक टिका रहेगा।

आप इस मंत्र को हमेशा अपने साथ रखिएगा। जब आप इस बोध को हमेशा साथ रखेंगे तो जीवन में मूर्च्छा, लालसा और तृष्णाएँ अपना मकड़-जाल नहीं रच पाएँगे। हमें सदा स्मरण रहेगा कि 'यह भी बीत जाएगा।' ध्यान का ध्येय यही है कि व्यक्ति अपने भीतर के बोध को, होश को, जागरूकता को जगा ले। ध्यान की अग्नि जलाकर अपने कर्मों को समाप्त कर ले। अपनी चेतना से जुड़ जाए। ध्यान का कार्य यही है कि व्यक्ति को अन्तर-जागरूक चेतना दे दे। इसके बाद जहाँ तुम रहोगे वहीं ध्यान सधेगा। जरूरत है बस एक बार बोध की लौ सुलगने की, जागरूकता की ज्योत जगने की।

अपने होश, अपने बोध और अपनी जागरूकता को हमेशा जीवित रखो। जागरूकता के साथ जो भी कदम उठेगा वह सफल और सार्थक होगा। उसके बाद ध्यान तुम्हारे जीवन में आनन्द का अपूर्व उत्सव घटित करेगा। एक अद्भुत आनन्द, अपूर्व उल्लास, प्रफुल्लित चेतना। बस! क्षमा करें, उस अपूर्व आनन्द को तो मैं भी शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर पाऊँगा। जीवन की इस अत्यन्त पावन घटना का अनुभव आप खुद करेंगे। भीतर जो अँधेरी रात दिखाई देती है, चाँद खुद-ब-खुद प्रकट होगा, बदलियाँ छूट जायेंगी, न केवल तुम्हारे भीतर पूर्णिमा होगी - मेरे प्रभु! तुम खुद पूर्ण हो जाओगे -

संगीत की ध्वनि वायु में जैसे मचलती।
या पिछले पहर रात अमृत में ढलती।
यों ध्यान में यौवन के थिरकता रूप।
ज्यों स्वप्न की परछाई नयन में चलती।
ज्यों सोम सरोवर में हृदय हंस का स्नान।
ज्यों चाँदनी लहरों में बाँसुरी की तान।
मुग्धा के मृदुल अधर पै यों साध की बात।
ज्यों ओस धुले फूल की पावन मुस्कान।

हाँ, तुममें भी ऐसा ही कुछ घटित होगा। प्रणाम है उन्हें जो इस ओर दो कदम बढ़ा चुके हैं।





हमारी जिंदगी गहराई की दृष्टि से, खोज की ही एक दास्तान है। जब हम जीवन-विज्ञान को उसकी गहराई में जाकर देखते हैं, तो जीवन सिवा एक खोज के कुछ महसूस नहीं होता है। इसलिए केवल विज्ञान ही खोज नहीं है, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण खोज जीवन है, जीवन की शान्ति है। उस खोज का नामकरण हम चाहे जो करें - भले ही उसे सुख या आनन्द कहें, निर्वाण या परमात्मा कहें, लेकिन मनुष्य का जब तक जीवन है तब तक खोज का सिलसिला जारी रहता है। जब व्यक्ति जगा रहता है तब भी खोज करता है, जब सो जाए तब स्वप्न में भी खोज प्रारम्भ हो जाती है।

खोज में लगना और सुख में जीना, इसमें फ़र्क है, कुछ व्यक्ति जिंदगी भर तक खोज में लगे रह जाते हैं और कुछ खोज के परिणाम का आविष्कार कर लेते हैं। जफर ने गाया है -

उमरे दराज माँगकर लाये थे चार दिन।
दो आरजू में बीत गये, दो इंतजार में।

मनुष्य की जिंदगी का आधा भाग तो आरजुओं को बनाने में ही बीत जाता है और शेष आरजू को कैसे पूरा करें इस सोच में। बहुत कम लोग ऐसे होते हैं, जिनकी खोज उपलब्धिपूर्ण होती है। वे अपनी खोज जीवन-निर्माण की दृष्टि से करते हैं

और खोज की उपलब्धि के रूप में परम सत्ता से साक्षात्कार करना चाहते हैं।

जिसे हम परमात्मा की खोज कहते हैं, उसके दो मार्ग हैं। पहला यह है कि व्यक्ति परमात्मा में स्वयं को डुबो दे। परमात्मा के अस्तित्व को ही अपना अस्तित्व स्वीकार करे और दूसरा उपाय यह है कि स्वयं को इतना जगा ले कि अपना कुछ न बचे सिर्फ जागरूकता ही शेष बचे।

पहला मार्ग रामकृष्ण का है और दूसरा मार्ग महावीर और बुद्ध का है। नमक की तरह जल में घुल-मिल जाना, अहं-बोध को भी अहंम् में विसर्जित कर देना रामकृष्ण और मीरा का मार्ग है और स्वयं को जागरूक बनाना, प्रखरता के साथ जीना महावीर और बुद्ध का मार्ग है। एक समर्पण का मार्ग है और दूसरा आत्म-विचार का।

धर्म हमेशा स्वभाव के अनुसार गति करता है। हमारा स्वभाव नारद, मीरा या रामकृष्ण के साथ अधिक अभियोजित होता है अथवा पतंजलि, महावीर और बुद्ध के साथ, हम समर्पण-मार्ग से परमात्मा से मिलना चाहते हैं या आत्म-विचार के मार्ग से परमात्म-उपलब्धि करना चाहते हैं, यह हम पर निर्भर है। इन दोनों मार्गों में कहीं कोई फ़र्क नहीं है। दोनों की मंजिल एक ही दिशा की ओर है। और दोनों में से किसी एक की जीवन में सर्वतोभावेन उपलब्धि ही परमसत्ता से साक्षात्कार के लिए काफी है। वैसे समर्पण और संकल्प दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है अतः किसी एक की उपलब्धि दूसरे की सहज प्राप्ति है। बिना समर्पण के संकल्प दृढ़ नहीं होगा और बिना संकल्प के समर्पण।

चयन करना तुम्हारे हाथ में है कि तुम मीरा के मार्ग से भक्ति की पगडंडी से गुजरना चाहते हो या महावीर के मार्ग ध्यान से। प्रतिक्रमण करना चाहते हो या प्रार्थना, निर्णय तुम्हारे हाथ में है। भक्ति के मार्ग में खुदा में खुद को खोना है और ध्यान के मार्ग में खुद में खुदा को उपलब्ध करना है। ध्यान का मार्ग महावीर और बुद्ध का मार्ग है। यह वह मार्ग है जहाँ व्यक्ति स्वयं में प्रविष्ट शत्रुओं से स्वयं ही युद्ध करता है और स्वयं ही विजेता बनता है। आत्म-विजय की अलख जगाने के लिए ही यह ध्यान-शिविर आयोजित किया गया है।

मैं खोने की बात नहीं करता, मैं उपलब्धि और जागरूकता की बात कहता हूँ। खोजना किसको है, अगर तुमने स्वयं को ही खो दिया तो बचाया ही क्या? और यदि स्वयं को उपलब्ध कर लिया तो पाने को शेष बचा ही क्या? इसलिए इस शिविर में मेरी मूल प्रेरणा यह रही कि जैसे-तैसे हम अपने आप में लौट आएँ। स्वयं में स्वयं की भगवत्ता को ढूँढ़ें और उपलब्ध करें।

में तो कहूँगा कि यदि समर्पण के मार्ग से भी हम गंतव्य को पाना चाहते हैं तो भी बोधपूर्वक/होशपूर्वक हमारे क्रिया-कलाप होने चाहिये। बिना बोध के जीवन का रूपांतरण सम्भव नहीं है। एक बँधी-बँधायी लीक तक हमारी गति हो जायेगी, पर वहाँ प्रगति की सम्भावना कहाँ है? महावीर के अनुसार अगर हमने बेहोशी में कोई क्रिया या कर्म किया तो उसमें अयतना होगी, अविवेक होगा। वहाँ फूल का खिलना तो हो जाएगा पर उसमें महक नहीं होगी। मेरे देखे, धर्म अपनी मूल अस्मिता को तभी प्राप्त कर पाता है जब वह बोधपूर्वक हो, विवेक और होशपूर्वक हो। इसलिए वे तो जैन हैं ही जो 'जिन' में आराधना/उपासना करते हैं, वे भी जैन हैं जो 'जयणा' (यतना) से जीते हैं। हकीकत में व्यक्ति 'जिन' तभी बन पाता है जब वह जयना-यतना से जीता है।

शिविर में मेरा प्रयास आपको किसी धर्म का अनुयायी बनाने का नहीं रहा। मेरा प्रयास रहा हमारे निज में छिपे जिनत्व का हमें अहसास करा दूँ। ध्यान हमें जिनत्व की आभा देगा। स्वयं से साक्षात्कार कराएगा। सत्य का बोध कराएगा। ध्यान हमारी बेहोशी तोड़ेगा और होश का दीप देगा। धर्म होश में है, यतना में है, विवेक में है।

महावीर से जब शिष्यों ने पूछा कि हम कैसे खाएँ, कैसे सोयें, कैसे बोलें, कैसे उठें-बैठें ताकि पाप-कर्म का बन्धन का बन्धन न हो।

महावीर ने एक ही शब्द कहा यतना - विवेक। चाहे तुम सोओ, बैठो, उठो, बोलो कुछ भी करो पर यदि यतना-जागरूकता का दीप, विवेक की ज्योति तुम्हारे पास है तो हर अंधकार को चीरते हुए तुम आगे बढ़ जाओगे। अगर यतना से संसार में भी जी रहे हो तो चलेगा और अगर अयतना से संन्यास में भी जीये तो भी घातक है। बोधपूर्वक अगर बाजार में भी बैठे हो तो बाजार भी तुम्हारे लिए मंदिर बन जायेगा और बेहोशी में मंदिर को भी हम बाजार बना देंगे।

महावीर के अनुसार मुनि का साधना-सूत्र ही यह है कि वह बोधपूर्वक जीये। बेहोशी में सौ वर्ष भी जीये तो क्या जीये, न जीकर कुछ पा सके, न मरकर। और होशपूर्वक अगर एक दिन भी जी गये तो बहुत है, जीते-जी उपलब्धिपूर्ण जीये और मरकर भी अमर हो गये।

महावीर अप्रमत्तता के पूर्णतः पक्षधर हैं। साधना-मार्ग में प्रमत्तता सबसे बड़ा पाप है। महावीर का जो आत्म-विकास का सिद्धान्त है, जब तक व्यक्ति प्रमत्त रहेगा, तब तक इस सिद्धान्त का सौ-फीसदी अनुगमन नहीं कर पाएगा। अप्रमत्तता साधना है, वहीं प्रमत्तता विराधना। जाग कर जीना धर्म है और सोकर जीना अधर्म है। होश पुण्य है और बेहोशी पाप है। अगर प्रमत्त अवस्था में मंदिर भी पहुँच जाओगे,

तब भी संसार तुम्हारे साथ होगा और अप्रमत्त दशा में अगर बाजार में भी पहुँच गये तो वहाँ परमात्मा तुम्हारे साथ होगा। एक प्रमादी कुछ न करते हुए भी हिंसक हो जाता है और एक जागरूक व्यक्ति परिस्थितिवश कुछ करते हुए भी अहिंसक बना रहता है। तुम्हारी गमन-क्रिया में चींटी मरी या नहीं, यह बात गौण है। खास बात यह है कि गमन-क्रिया हमने कितने होश में की और कितनी बेहोशी में।

महावीर जिसे प्रमाद कहते हैं, उसका अर्थ है, सोए-सोए जीना, बेहोशी में जीना, अयतना से जीना। अप्रमाद का अर्थ होता है - जगे-जगे जीना, होशपूर्वक जीना, विवेकपूर्वक जीना। एक प्रमादी जिस क्रिया को करते हुए बंधन में बँधता है वहीं एक अप्रमादी उसी क्रिया को करते हुए बन्धनमुक्त होता है।

अप्रमाद का संबंध मात्र साधना, धर्म या अध्यात्म से ही नहीं है। जीवन की प्रत्येक दहलीज पर जाग्रति का दीप टिमटिमाना चाहिए ताकि इस पार भी प्रकाश हो और उस पार भी। धर्म का सम्बन्ध सिर्फ हमारे उन अनुष्ठानों के साथ नहीं है, जो हम कभी पूजा-पाठ के रूप में, सामायिक-प्रतिक्रमण के रूप में, यज्ञ-हवन के रूप में करते हैं। यह तो धर्म रूप है। धर्म तो जीवन के कदम-कदम पर साथ होना चाहिए। ऐसा नहीं है कि जब तुम उपाश्रय में सामायिक करो, तब स्थान को चरवले से प्रमार्जित कर के बैठो। धर्म जीवंत वहाँ हाता है, जब व्यक्ति दुकान में बैठते समय भी इस बात का विवेक रखता है कि गद्दी के नीचे कोई चींटी तो नहीं है। आज हम जो धर्म कर रहे हैं, वह सब एक बँधी-बँधाई लीक है। जब हम महाराज के सामने प्रवचन सुनने बैठते हैं, तब तो मुँहपत्ति का विवेक दिखाते हैं और जब दुकान में ग्राहक से बात करते हैं, तब लड़ाई-झगड़े कर बैठते हैं, गाली-गलोच करते हैं, उस वक्त हमारा यह विवेक कहाँ चला जाता है !

हमने धर्म को भी एक व्यवस्थित और सभ्य मज़ाक बना दिया है। जब तुम सामायिक करने से पहले मुँहपत्ति का पडिलेहन करते हो, तब तो तीन दफ़ा गुरु से आज्ञा माँगते हो पर जब दुकान में मिलावट करते हो, तब किससे आज्ञा माँगते हो। सामायिक एक शुभकृत्य है। इसके लिए तो परमात्मा ने सदा के लिए आदेश दिया है। अगर आदेश माँगना ही है तो उन कृत्यों के लिए आदेश माँगो, जो तुम्हारे जीवन को गर्त में डाल रहे हैं। शायद तब गुरु के वचन तुम्हारे जीवन का रूपांतरण कर दें। आज आवश्यकता है धार्मिक कृत्यों में भी विवेक के प्राण फूँकने की। अन्यथा ये सब हमारी बँधी-बँधाई परम्पराएँ हैं, मात्र नियम-बद्ध किसी प्रतिज्ञा का पालन है।

अब इसे धर्म के साथ मज़ाक नहीं कहोगे, तो क्या कहोगे कि दिन भर तो क्रोध करते हो, एक दूजे की निंदा करते हो, छींटा-कसी करते हो और रात को सोते वक्त

छः घंटे का मौन लेते हो। यह सब कुछ सोये-सोये धर्म करना हुआ। अगर आत्म-निरीक्षण के साथ ईमानदारी से सोचें, तो सामायिक, प्रतिक्रमण, पूजा-प्रार्थना जिस रूप में सोये-सोये आज हम इन सबको कर रहे हैं, ये सब प्रश्नचिन्ह बनकर हमारे विवेक के सामने खड़े हैं। बेहोशी में तीस उपवास भी कर लोगे पर क्षमा का होश एक दिन भी तुम्हारे जीवन में घटित न हो पाएगा। महावीर कहते हैं, तुम सब कुछ करो। उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि तुम निठल्ले, प्रमादी होकर किसी कमरे में बैठ जाओ या गुपचुप जीवन का समापन कर लो। महावीर ऐसा कभी नहीं चाहते हैं। इसलिए जिन लोगों ने बुद्ध और महावीर पर आक्षेप लगाया कि इन दोनों के सिद्धान्तों ने भारतीय जनजीवन को अकर्मण्य कर दिया, यह सरासर गलत है। महावीर ने न तो दुनिया को सुखी किया, न प्रमादी बनाया, न ही उनके सिद्धान्त दुःख से भरे हैं। 'जम्म दुक्खं, जरा दुक्खं' जैसी गाथाओं को सुनकर उन लोगों ने कह दिया कि महावीर ने दुःख की बातें कहीं। हकीकत तो यह है कि महावीर ने मनुष्य को दुःख की पहचान कराई। बिना दुःख को पहचाने, कैसे संभव है दुःख-मुक्ति और सुख-प्राप्ति।

महावीर ने अपने शिष्यों को यही संदेश दिया कि तुम एक क्षण का भी प्रमाद मत करो। महावीर ने यह बात केवल गौतम के लिए नहीं कही थी कि तुम क्षणभर का प्रमाद मत करो - 'समयं गोयम मा पमायए।' महावीर की यह बात समस्त मानव जाति के लिए हितकारी है। हकीकत तो यह है कि हमारी अप्रमत्तता और जागरूकता, यही तो हमारे भविष्य का निर्माण करती है। छोटे-से-छोटे कृत्य में बड़ी से बड़ी जागरूकता, महावीर इसी को साधक की अप्रमत्तता कहते हैं और महावीर का जो गुणस्थान क्रमारोहण है, उसमें अप्रमत्त गुणस्थान सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है, क्योंकि यही वह गुणस्थान है, जो साधक के उत्थान का निर्णय करता है। यह गुणस्थान आरोहण तो ठीक वैसे ही हुआ; जैसे राजपथ पर हितोपदेश में लिखा रहता है - सावधानी हटी, दुर्घटना घटी। एक कार चालक के लिए भीड़ भरे रास्ते में जितनी सावधानी की जरूरत होती है, उतनी ही सावधानी साधक को अपने जीवन में पल-पल, क्षण-क्षण रखनी पड़ती है।

सामान्यतया चित्त की तीन अवस्थाएँ कही गई हैं - सुषुप्ति, जाग्रति और स्वप्न। केवल खुली आँखों में ही जागरूकता नहीं रखनी है। वह साधक साधना के मार्ग पर काफी आगे बढ़ गया है, जो नींद भी होश के साथ लेता है।

एक वीतराग पुरुष की यह पहचान है कि व्यक्ति जीवन में घटित होने वाली छोटी-छोटी घटनाएँ, छोटे-छोटे कृत्य और छोटी-छोटी बातों में उतनी सजगता

रखता है, जितनी नृत्यकार रस्सी पर नाचने में। कौन वीतराग है, इसका कोई प्रमाण-पत्र नहीं होता है। वीतराग की पहचान साधक की सजगता और साक्षी-भाव से जुड़ी रहती है।

धम्मपद की कथाओं में एक कथा है कि एक दिन तथागत बुद्ध प्रवचन दे रहे थे। अचानक उनके कंधे पर एक मक्खी आकर बैठ गई। उन्होंने मक्खी को उड़ाने के लिए अपना हाथ उठाया। हाथ उठाने की गति तेज थी पर हाथ कंधे तक पहुँचे, उससे पहले ही मक्खी उड़ गई। बुद्ध को अपने कृत्य पर क्षोभ हुआ और वे बड़ी मंदगति से मक्खी को उड़ाने का अभ्यास करने लगे।

शिष्यों ने पूछा - 'प्रभु! मक्खी तो कभी की उड़ गई फिर आप यह हाथ क्यों हिला रहे हैं।'

बुद्ध मुस्कराए। कहा - 'यह तो मैं भी जानता हूँ, लेकिन मुझे क्षोभ इस बात का है कि मक्खी को उड़ाने में मेरी जितनी सजगता रहनी चाहिए थी, नहीं रह पाई। मैंने उसे बेहोशी में उड़ाया। लेकिन जैसे ही मुझे होश आया, मैंने अभ्यास किया कि फिर कभी मक्खी आकर बैठे तो मुझे कितनी सजगता के साथ उसे उड़ाना है। मेरे लिए यह बात गौण है कि मक्खी उड़ी या बैठी रही। खास बात यह है कि उसे उड़ाने में मैंने कितनी सावधानी रखी।'

महावीर जो सजगता और अप्रमत्तता की बात कर रहे हैं, वह यही है कि तुम यदि मक्खी को भी उड़ाओ तो उसे उड़ाने में तुम्हारी चेतना पूरी सजगता के साथ जुड़ी रहनी चाहिये।

हमारा कर्म कैसा है, यह बात गौण है। हम किसी भी कार्य को कितनी तत्परता और सजगता के साथ करते हैं, महत्त्वपूर्ण यह है। मैं तो कहूँगा कि जाग्रत पुरुष हमेशा अहिंसक होता है और बेहोश व्यक्ति सदा हिंसा में जीता है। हमारा प्रत्येक कार्य बोधपूर्वक हो। बोधपूर्वक कार्य करना अच्छी बात है; बोधहीन कार्य बुरा है। संसार में भी अगर बोधपूर्वक जी रहे हो, तो वहीं तुम्हारे लिए समाधि का राजद्वार खुलेगा और बोधहीन संन्यास में भी सिवा संसार के कुछ भी उपलब्ध नहीं कर पायेगा। सजगता की ज़रूरत केवल सामायिक, प्रतिक्रमण या धार्मिक अनुष्ठानों में ही नहीं है, अपितु जीवन के उन छोटे-छोटे कृत्यों में भी है, जिन्हें हम बेहोशी में यूँ ही पूरा कर देते हैं। सामायिक में मुँहपत्ती को हम तीन-तीन दफा पलट कर देखते हैं, कहीं कोई जीवाणु न हो। शायद वहाँ ऐसी कोई संभावना भी न हो, पर जीवाणुओं को ढूँढ़ने, बचाने की हमारी यह यतना तब पूरी तरह बेहोश हो जाती है, जब हम प्रतिदिन आवश्यक कृत्यों को पूर्ण करते हैं। सुबह उठने पर चाय बनाने के लिये जब हम गैस

के चूल्हे को तीली दिखाते हैं, तब हमारी यतना की डोर इतनी ढीली पड़ जाती है कि हम गैस के चूल्हे पर एक नजर भी नहीं डालते कि कहीं कोई कीट-कीटाणु, जीव-जीवाणु तो नहीं है। ऐसा भी हो सकता है कि जब रात को दूध गरम किया हो, उफना हो, बाहर गिरा हो और उसकी मिठास से रात भर में कई चींटियाँ चूल्हे पर चढ़ आई हों। ऐसा कुछ भी होने पर हमारा एक छोटा-सा अविवेक उन चींटियों को झुलसा सकता है।

यह हमारी धर्म के साथ बेहोशी नहीं तो और क्या है? जब हम अपनी शोभायात्राओं में नारेबाजी तो अहिंसा और दया की करते हैं और पैरों में जूते-चप्पल चमड़े के पहना करते हैं। मेरे प्रभु! धर्म और अध्यात्म को केवल कहने भर से प्रचारित-प्रसारित नहीं किया जा सकता, उसे हमें वहाँ भी लाना पड़ेगा जहाँ हम तस्करी करते हैं, मिलावट करते हैं, अन्याय, अत्याचार और बेईमानी करते हैं।

मैं जागकर जीने की बात करता हूँ, इसका अर्थ सिर्फ इतना ही नहीं है कि तुम सामायिक, प्रतिक्रमण या पूजा-पाठ ही जागकर करो। मैं तो कहूँगा क्रोध भी जागकर करो। तुम्हें इतना बोध तो होना ही चाहिए कि मैं क्रोध कर रहा हूँ। जब जीवन में जाग्रत का शंखनाद होता है, तभी व्यक्ति संसार में समाधि को आत्मसात कर पाता है। हम सिर्फ उस व्यक्ति को बेहोश समझते हैं, जो किसी नशे में जी रहा है या मानसिक रूप से विक्षिप्त है लेकिन उससे भी ज्यादा वह व्यक्ति बेहोश है, जो सत्य को जानकर भी सत्य में जी नहीं पाता। जब व्यक्ति सत्य में जीने की कला सीख जाता है, संबोधि में जीता है। इस अहोभावमय दशा का नाम ही तो बुद्धत्व है।

मेरी नजर में ध्यान सिर्फ वहाँ फलित नहीं होता, जहाँ व्यक्ति रोजाना एक-आध घंटा आसन लगाकर आँखें बंद कर बैठ जाता है। घनीभूत ध्यान वहाँ होता है, जहाँ व्यक्ति आसन से उठने के बाद भी ध्यान में जीता है। जब आसन पर बैठे थे, तब केवल मन को समझना था। जब आसन से उठ गये, तो जीवन को समझना है। ध्यान से उठने के बाद भी खाना, पीना, उठना, बैठना, सोना, चलना, फिरना सब कुछ ध्यानपूर्वक ही होना चाहिए। अन्यथा आसन पर आधे घंटे तक किया जाने वाला ध्यान तो ठीक वैसे ही होगा, जैसे सुबह-शाम दवा की गोली तो खा ली पर उसके आगे-पीछे परहेज नहीं कर पाये। परहेज के अभाव में तुम यह सोचकर संतुष्ट हो जाओगे कि मैंने दोनों समय दवा ले ली, लेकिन स्वस्थ नहीं हो पाओगे।

लोग पूछते हैं, परमज्ञान कैसे होता है? आत्मदर्शन कैसे होता है? हम परमात्मा से साक्षात्कार की विधियाँ जानना चाहते हैं। मेरे प्रभु! परमात्म-दर्शन न तो पद्मासन में होता है, न ही खड़गासन में। न शीर्षासन में होता है, न मयूरासन में। सत्य तो कहीं

भी और किसी भी स्थिति में प्रकट हो सकता है। तुम सब्जी पकाते हुए भी परमात्मा के प्रसाद को पा सकते हो। कपड़े की सिलाई करते-करते भी परमात्मा के अनुग्रह को हासिल कर सकते हो। इसलिए केवल पद्मासन में ही ध्यान पर जोर मत देना। चलते समय भी इस बात का ध्यान रखना कि तुम्हारे पैरों तले कहीं कोई चींटी न आ जाए। बोलते समय इस बात का ध्यान रखना कि मुँह से कोई अपशब्द न निकल जाए और भोजन करते समय इस बात का ध्यान रखना कि कहीं कोई अशुद्ध भोजन न कर लिया जाए। तुम जहाँ हो, जैसे भी हो, अगर ध्यानपूर्वक जीवन जी रहे हो, तो वहाँ मानो परमात्मा को जी रहे हो।

बुद्ध को परमात्म-दर्शन पद्मासन में हुआ था। महावीर को कैवल्य उकड़ आसन में उपलब्ध हुआ। ईसा को ईश्वरत्व सूली ने दिया, तो सुकरात को ज़हर के प्याले ने, रैदास ने जूते की सिलाई करते-करते चेतना को उपलब्ध किया, तो कबीर ने चदरिया को बुनते-बुनते। तुलसीदास को रामायण में राम दिखाई दिये और गोरा को मिट्टी में। मीरा का परमात्मा घुँघरू में पैदा हुआ और सूरदास का इकतारे में। इसलिए चेतना की जाग्रति होने के बाद परमात्म-दर्शन केवल मंदिर, मस्जिद और गिरजाघर में नहीं होता बल्कि वहाँ भी होता है जब इंसान के भीतर मंदिर, मस्जिद और गिरजाघर आ जाते हैं।

हमारे कृत्य ध्यानपूर्वक होने चाहिये। प्रमाद से दोनों ओर नुकसान है। अगर नींद में रहे तो भी नुकसान है और सपने में जीए तो भी। स्वप्न भी बेहोशी है और निद्रा भी। मुझे कोई पूछे कि साधना का सार क्या है? तो मैं कहूँगा कि जगे-जगे जीना ही साधना है। वह आत्म-साधक साधना के मार्ग में कई मील के पत्थर पार कर चुका है, जो बाहर से तो भले ही सोया है लेकिन भीतर की चेतना जग रही है। भीतर की चेतना जगने का मतलब हुआ स्वयं को उपलब्ध होना, स्वयं का स्वयं को साक्षात्कार होना। आत्मज्ञानी वही है जिसने अपनी मूर्च्छा को गिरा दिया है। व्यक्ति मूर्च्छित है, बेहोश है, तभी तो जड़ में चेतन व चेतन में जड़ को आरोपित कर रहा है। आत्म की अनुभूति भी शरीर-भाव में कर रहा है। देह में यदि आत्म की प्रतीति हो, तो यह चेतना का मिथ्यात्व है।

मेरे देखे, दुनिया में प्रायः सभी सोए हैं। जो चल रहा है वह भी सोया है जो बैठा है वह भी सो रहा है और जो बिस्तर पर है वह भी सोया है, पर मनुष्य को इस सत्य का बोध नहीं है कि मैं सोया हूँ इसलिए जागने की कोशिश से पहले यह अहसास करने का प्रयास करो कि मैं सच में सोया हूँ। जब व्यक्ति जान लेगा कि मैं सोया हूँ, तो जागने की प्रक्रिया स्वतः प्रारम्भ हो जाएगी। प्रायः नींद में हमें यह ज्ञात नहीं रहता कि

मैं सोया हूँ। पागल को अगर यह पता चल जाए कि वह पागल है तो उसका पागलपन अपने आप दूर हो जाए।

भगवान बुद्ध के बारे में कहते हैं कि बुद्ध रात को जिस करवट से सोते थे, सुबह उसी करवट से उठते थे। जो शरीर का भाग जिस ढंग से रात को सोते वक्त रहता था सुबह वैसा ही मिलता था। कहते हैं एक दिन आनन्द ने भगवान से पूछा कि प्रभु मैं रात को सोता हूँ तो जिस करवट से सोता हूँ सुबह दूसरी करवट से उठता हूँ कभी-कभी तो सिराहना पश्चिम की ओर करके सोता हूँ, सुबह आँख खुलती है तो पाता हूँ वह उत्तर की ओर होता है; आश्चर्य आपके तो अँगुली भी रात में नहीं हिलती है इसका कारण क्या है?

बुद्ध मुस्कराए, बोले, वत्स! मैं जगे-जगे सोता हूँ। जब मेरा शरीर सो जाता है तब भी मेरी चेतना जगी रहती है। और एक आत्म-साधक की यह पहली पहचान है कि वह न केवल जगे-जगे जगा रहे अपितु सोये भी जाग्रति में ही, जब शरीर सोया हुआ हो तब भी अंतश्चेतना जगी रहे।

हमारे साथ तो उल्टा ही चल रहा है, महावीर और बुद्ध तो रात में सोते थे तब भी जगे रहते थे और हम दिन में जगे हैं तब भी सोए-सोए हैं। ज्ञानीजनों ने मनुष्य के चित्त की जो तीन अवस्थाएँ कही हैं हम उन्हें बारीकी से समझें। पहली अवस्था सुषुप्ति, दूसरी स्वप्न, तीसरी जाग्रति। स्वप्न और सुषुप्ति बेहोशी है, मूर्च्छा है, प्रमाद है और ज्ञानियों ने जिस जाग्रति का जिक्र किया है महावीर उसी को अप्रमत्त अवस्था कहते हैं। महावीर और बुद्ध का जो ध्यान मार्ग है, चाहे हम उसे विपश्यना की संज्ञा दें या प्रेक्षा की, मूलतः जाग्रति ही उसका आधार बिन्दु है। मूर्च्छा में न तो विपश्यना के मार्ग से गुजरना सम्भव है और न ही प्रेक्षा-अनुप्रेक्षा या संबोधि के मार्ग से। जहाँ भी जड़ और पुद्गल पदार्थों से हटकर स्व-भाव में लौटने का प्रयास करोगे, अप्रमत्तता उसकी पहली और आखिरी सीढ़ी होगी। साधना में प्रथम व अंतिम चरण दोनों ही अप्रमत्त दशा ही तो है। महावीर के अनुसार शिखर के करीब पहुँच कर भी क्षण-भर के लिए भी व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है तो वापस तलहटी पर ही पहुँचेगा। क्षण-क्षण जागरूक अवस्था, पल-प्रतिपल सजगता, साधना के शिखर पर चढ़ने के लिए ये पहली आवश्यक शर्तें हैं।

हम सब सोए हैं जितना यह सत्य है उतना ही यह भी सत्य है कि इस सुषुप्तावस्था का हमें कहीं बोध भी नहीं है। आदमी बहुत कुछ सोए-सोए करता है। सुबह क्रोध किया, साँझ को क्षमा माँगने के लिए गये; सुबह चाँटा मारा, साँझ को हाथ जोड़ने के लिए गए। कहा, मैं नहीं चाहता था फिर भी क्रोध आ गया। जब तुम

चाहते नहीं थे तब क्रोध पैदा कैसे हो गया, प्रगट कैसे हो गया। वास्तव में उस समय तुम तन्द्रा में थे, बेहोशी में थे, समझ न पाए कि मैं क्या कर रहा हूँ, किसके साथ गाली-गलोच कर रहा हूँ, अपशब्द बोल रहा हूँ। अपनी गलती का अहसास तो तब हुआ जब तुम्हारी वह तन्द्रा टूटी। होश आया तब पता चला कि कहीं कुछ गलत कर रहे हो, फिर क्षमा माँगी, पश्चात्ताप किया।

हम बेहोशी में बहुत कुछ कर जाते हैं इसलिए फिर पश्चात्ताप करना पड़ता है। जो होश में जीता है, उसे कभी पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता, क्योंकि होश में कभी भी कुछ अनुचित होने की संभावना ही नहीं रहती जब गलत कृत्य नहीं होंगे तो प्रायश्चित्त कैसा?

मैं तो कहूँगा कि अगर व्यक्ति प्रेम भी करे तो भी होश में करे। जो प्रेम तुम्हें बेहोशी देता है, गिराता है, पागलपन देता है, वह कभी प्रेम नहीं हो सकता। वह तो प्रेम के नाम पर हमारे भीतर पैदा होने वाली राग दशा है, मूर्च्छित अवस्था है। कहते हैं अमुक व्यक्ति प्रेम में विफल हो गया, तो उसने आत्महत्या कर ली कुएँ में गिरकर, फांसी के फंदे पर लटककर या ज़हर खाकर अपने जीवन का समापन कर लिया, यह प्रेम का पागलपन है, विक्षिप्तता है। जीवन में पैदा होने वाला प्रेम क्षण-क्षण होश से जुड़ा हुआ हो। 'फालिंग इन लव' (प्रेम में गिर जाना) अनुचित है, वह बेहोशी है अगर हो सके तो जीवन में 'राइजिंग इन लव' (प्रेम में उठ जाना) स्वीकार करो, यह उपलब्धि है।

जिंदगी ऐसे सोये-सोये बीती जा रही है, लगता है जैसे सिर पर से कोई फिल्म गुजर रही हो। जिंदगी में कई चोटें, कई ठोकरें लग रही हैं, लेकिन इसके बावजूद भी कहीं कुछ होश जैसा नहीं आ रहा। पता नहीं कितने-कितनों की शवयात्रा में जा चुके हो, अनेकों की चिताओं को जलते हुए देख चुके हो फिर भी हमारे जीवन में जाग्रति की ज्योति नहीं जगी।

किसी दूसरे की होने वाली मृत्यु वास्तव में हमारी मृत्यु की पूर्व-सूचना है। पड़ौसी का धरती से जाना केवल उसके जाने तक सीमित न रखें। वह तो गया, जाते-जाते संदेश छोड़ गया कि तुम्हें भी एक दिन इसी तरह जाना है। देह की आसक्ति, धन की मूर्च्छा, परिवार की ममत्व-बुद्धि सब कुछ एक क्षण में टूट जाती है। इस अधुव और अशाश्वत संसार में व्यक्ति मूर्च्छित है इन्हीं जड़ और पुद्गल पदार्थों के प्रति। बुद्ध वह है जो दूसरों को ठोकर खाते हुए देखकर जग जाए। वह बुद्ध नहीं तो और क्या है, जो जिंदगी में सौ-सौ दफा ठोकर खाने के बाद भी जग नहीं पाता। वह ठोकर पर ठोकर खाए जाता है। फिर भी मुझसे अगर पूछो तो मैं कहूँगा कि रात की

नींद इतनी घातक नहीं है जितनी कि दिन की नींद घातक है। रात को बिस्तर पर सोया है उसे तो जगाना भी जा सकता है लेकिन जो दिन में चलते-चलते भी सो रहा है उसे जगाना कठिन है। उसकी मूर्च्छा गहरी है। जैसे किसी खतरे के क्षण में जितने सचेत रहते हो अगर जीवन भी इसी तरह सावधानी से जीओ तो बेहोशी तुम्हारे पास फटक नहीं पाएगी।

अगर तुम सोए-सोए जिंदगी पूरी कर रहे हो, तो जिंदगी तो पूरी कर लोगे पर उपलब्ध कुछ नहीं कर पाओगे। कुछ बन नहीं पाओगे। अगर किसी सत्तर वर्षीय वृद्ध से पूछो कि तुम्हारे जीवन की उपलब्धि क्या है? वह कहेगा दस लाख रुपये, दुकान, मकान, परिवार यही सब गिनाने के लिए उसके पास नाम हैं लेकिन इसमें उसकी अपनी उपलब्धि क्या है? इनमें कोई भी तो ऐसा नहीं है जो साथ निभा सके उसका मृत्यु के बाद। लेकिन इसके उपरांत भी मनुष्य इन सबको अपनी उपलब्धि मानता है। अनश्वर चेतना नश्वर को अपनी उपलब्धि मान रही है, अनश्वर नश्वर को ढूँढ़ा जा रहा है। यह सुषुप्ति है, स्वप्नावस्था है। पर से मुक्त होकर स्वयं में लौट आना, इसी का नाम जाग्रति है।

अप्रमाद का सूत्र है, इस बात की समझ आ आये कि मैं सोया हूँ। जब ऐसी समझ आ जाएगी तभी खोज शुरू हो जाएगी। जब तक रोगी को रोग का अहसास नहीं होगा तब तक वह दवा कैसे लेगा। नींद भी हमारे साथ इतनी गहरी जुड़ गई है कि हमें इसका बोध ही नहीं होता। धार्मिकता की शुरुआत तब होगी जब नींद का बोध, मूर्च्छा का बोध हो। बोध हमें स्वयं पैदा करना होता है। अगर डूबने से बचते रहे तो कभी तैरना नहीं सीख पाओगे। तैरना स्वयं को सीखना होगा, नदी किनारे पहुँचकर कहोगे कि पानी में पीछे जाऊँगा पहले तैरना सिखाएँ, तो तुम जिंदगी में तैरना नहीं सीख पाओगे। पाने के लिए खोना भी आवश्यक है और अगर खोने से कतराते रहे, तो पा कुछ नहीं सकोगे। दुनिया में बहुत से लोग होते हैं जो नदी किनारे जिंदगी पूरी कर देते हैं। लेकिन पानी में कभी उतर नहीं पाते, सोचते हैं पहले तैरना सीख लूँ फिर पानी में उतरूँगा।

ऐसा ही हुआ, एक युवक अपने कमरे में बिस्तर पर सोए-सोए हाथ-पैर चला रहा था। दूसरा दोस्त पहुँचा, पूछा भैया! ये क्या कर रहे हो? बिस्तर पर क्यों हाथ-पैर मार रहे हो? उसने कहा, तैरना सीख रहा हूँ। वह चकराया, तैरना! वह भी बिस्तर पर, यह कैसे होगा! क्या बिस्तर पर कभी तैरना सीखा जा सकता है?

उसने कहा, सो तो ठीक है। बिस्तर पर तैरना तो नहीं सीखा जा सकता पर पानी में उतरने में भय लगता है कल को डूब गया तो! दोस्त मुस्कराया और बोला, जब

तक यह प्रश्न तुम्हारे भीतर रहेगा तब तक तुम भले ही जिंदगी भर हाथ-पैर चलाते रहो, तैरना नहीं सीख पाओगे।

थोड़ा जगें। धीरे-धीरे पानी में उतरने का अभ्यास करें। इतनी सजगता और जागरूकता के साथ उतरें, इतने आहिस्ते उतरें कि आप डूब न पाएँ। और उस पानी में फिर तैरने का अभ्यास करें, धीरे-धीरे तैरना सीख जाएँगे।

सड़क किनारे खड़े होकर कभी निरीक्षण करें, आप पाएँगे लोग सब नींद में चल रहे हैं। चलते-चलते कोई गीत गुनगुना रहा है, कोई जीभ और होठों के सहारे से संगीत निकाल रहा है। कुछ लोग चलते-चलते अपने से ही बातें कर रहे हैं। कोई हाथ हिला रहा है, किसी के होंठ काँप रहे हैं, और किसी को कुछ पता ही नहीं है कि वह क्या कर रहा है बस चले जा रहे हैं, बहे जा रहे हैं। चलना सिर्फ एक अभ्यास हो गया है। कभी कोई पीछे से हॉर्न बजाता है, आदमी जरा-सा जगता है, चौंकता है, किनारे खिसकता है और वापस वैसा का वैसा चलने लग जाता है।

मैंने सुना है, एक युवक जो क्रिकेट की कॉमेंट्री सुनने का ज्यादा शौकीन था। सड़क पर गुजर रहा था और उस दिन भी कान पर रेडियो लगाये कॉमेंट्री सुन रहा था, अचानक चलते-चलते उसने जोर से आवाज लगाई वो मारा छक्का! साथ चल रहे लोग हँसने लगे, कहने लगे, भैया छक्का तो श्रीलंका में लग रहा है तू यहाँ क्यों चिल्ला रहा है। उसने कहा, बस मजा आ गया।

मनुष्य का सारा जीवन यंत्रवत् गतिमान है। हमारे पाँव अपने-आप एक मशीन की तरह सुबह घर से दुकान व साँझ दुकान से घर की ओर रवाना हो जाते हैं। यह सब कुछ नींद में हो रहा है, एक अभ्यास की तरह। एक आदत बन गई है हमारी और आदतों को दोहराने में हमें आसानी रहती है क्योंकि उनके लिए जगना नहीं पड़ता, सब कुछ सोए-सोए हो जाता है। इसलिए मनुष्य पुराने कामों को दोहराता चला जाता है। उसे कहीं कोई बोध नहीं है।

एक आदमी अपने मुँह में सिगरेट लगा लेता है। माचिस जला कर सिगरेट लगा लेता है, पी लेता है और गुंठल फेंक देता है। कोई यह नहीं कह पाएगा कि यह आदमी नींद में है क्योंकि हम कहेंगे अगर नींद में था तो इसका हाथ क्यों नहीं जल गया। सच्चाई तो यह है कि वह जगा हुआ भी सोया हुआ है, यह मूर्च्छा नहीं तो और क्या है, कि आदमी सिगरेट के पैकेट पर रोज वैधानिक चेतावनी को पढ़ता है, पर रोज पीता भी है। अगर सही में वह जगा रहता तो वैधानिक चेतावनी को एक बार पढ़ते ही सिगरेट को फेंक देता। आदमी बेहोश है। तभी तो अपने स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ कर रहा है। वह यह जानते हुए भी तम्बाकू चबा रहा है कि तम्बाकू उसके

लिए हानिकारक हो सकती है। हमें इन सब छोटी-छोटी क्रियाओं के प्रति सजग होना पड़ेगा। पहले हम इन्हीं क्रियाओं से प्रारम्भ करें, अपनी सजगता को साधने के लिये कहीं कोई ज्यादा झंझटबाजी नहीं होगी।

रास्ते पर चल रहे हैं, खाना खा रहे हैं, स्नान कर रहे हैं, कपड़े पहन रहे हैं, ये हैं तो सब सामान्य-सी क्रियाएँ, अगर इन छोटी-छोटी क्रियाओं से भी जागरूकता की शुरुआत करें तो आप हैरान हो जाएँगे जब जगे हुए कपड़े पहनेंगे, जगे हुए ही जूते पहनेंगे, खाना खाएँगे। एक अद्भुत आनन्द व सजगता रहेगी। मैं तो कहूँगा यह ध्यान की सबसे बड़ी उपलब्धि है कि सुबह आपने यहाँ बैठकर ध्यान किया जितनी सजगता के साथ किया, उतनी ही सजगता के साथ यहाँ से जाते समय बाहर लेते जाना और ग्राहक से बात करते समय, खाना बनाते समय, सड़क पर चलते समय इसी सजगता को साथ रखना दैनंदिनी में। मैं तो आज आपको यही कहूँगा कि अगर इस शिविर की कुछ उपलब्धियाँ साथ ले जाना चाहते हो तो सजगता को साथ ले जाना। जीवन के प्रत्येक कृत्य में इतनी सजगता रखना जितनी सजगता के साथ चूल्हे पर पापड़ सेंकते हो, अगर क्षण भर के लिए ध्यान चूक गया तो पापड़ जल जाएगा। वह व्यक्ति जीवन में किसी भी कृत्य में असफल नहीं हो पायेगा जो दिन भर के प्रत्येक कार्य में पापड़ सेकने की तरह सावधानी रखता है।

पहले छोटी-छोटी क्रियाओं के प्रति जगें और उसके बाद क्रोध, घृणा, वैर वैमनस्य के लिये जगना शुरू करें। आप पाएँगे अगर आप इनके प्रति सजग हो गए हैं तो कैसा भी विपरीत वातावरण उपस्थित हो जाए क्रोध नहीं प्रकट कर पाएँगे। अभद्रता प्रकट नहीं कर पाएँगे और धीरे-धीरे तो जिंदगी इतनी मजेदार हो जाएगी कि रात को सोओगे तब भी जगे-जगे सोओगे और महावीर की नज़रों में तो वही व्यक्ति मुनि है जो जगा हुआ जी रहा है, विवेक से जी रहा है, होशपूर्वक प्रत्येक कृत्य कर रहा है। महावीर के अनुसार तो बेहोशी में कृत्य न करते हुए भी व्यक्ति बंधन का भागी बन जाता है और होशपूर्वक कृत्य करते हुए भी बन्धनों का विमोचन कर लेता है। महावीर से जब शिष्यों ने पूछा, प्रभु! हम कैसे खाएँ, चलें, उठें, बैठें, सोएँ, ताकि पाप-कर्मों का बंधन न हो। महावीर ने कहा, विवेक से चलो, विवेक से बैठो, विवेक से खाओ-पीओ तुम्हें पाप कर्म का बंधन नहीं होगा। महावीर के विवेक का अर्थ है - होश। महावीर अगर कहते हैं कि विवेक से खाओ तो इसका मतलब हुआ होशपूर्वक खाओ। खाते समय तुम्हें होश रहना चाहिए कि तुम अभी खा रहे हो। महावीर जब कहते हैं कि विवेक से चलो तो इसका अर्थ हुआ कि पैर उठे तो जानो कि पैर उठा। ज़मीन पर वापस गिरे तब यह अहसास हो कि मेरा पैर ज़मीन पर जा रहा है।

महावीर से जब पूछा गया कि आप मुनि किसको कहते हैं? महावीर ने यह नहीं कहा जो नग्न है, या जो रजोहरण-मुँहपत्ति रखता है वह मुनि है। महावीर ने जो जवाब दिया, वह अद्भुत था। उन्होंने कहा 'असुत्ता मुनि' – मुनि वह है जो जगा हुआ है। जो सोया हुआ नहीं है महावीर उसे मुनि कहते हैं। शिष्यों ने फिर पूछा कि आप अमुनि या असाधु किसे कहते हैं? छोटे से सूत्र में महावीर ने अपने साधना-मार्ग का सार दे दिया। बड़ी गहरी और समझ की बात कह दी – जो जागा सो मुनि, जो सोया सो अमुनि। अगर आप जाग कर जी रहे हैं, तो आपके जीवन में साधुता का सूर्योदय होगा और अगर सोए-सोए जी रहे हैं तो असाधुता के शिकंजे में कसे हैं।

हमारे जीवन की प्रत्येक क्रिया स्मरणपूर्वक हो, होशपूर्वक हो। बुद्ध, महावीर, कृष्ण, सबके संदेशों का सार है – अप्रमत्तता। अगर तुम अप्रमत्त हो तो अहिंसक हो पाओगे, अपरिग्रही और ब्रह्मचारी बन पाओगे क्योंकि अप्रमाद ही साधना का सूत्र है। जिस दिन जीवन में सौ-फीसदी अप्रमाद की पौ-बहार हो जाएगी, उसी दिन आत्मा की अमृत की बूँद तुम्हें उपलब्ध हो जाएगी।

अंत में, आज मैं आपसे यही निवेदन करूँगा कि आपके ध्यान-शिविर की यह सबसे बड़ी उपलब्धि होगी कि आप यहाँ से सजग होकर जाएँ। जो कुछ करें होशपूर्वक करें।

मेरा प्रणाम है उन सब आत्म-साधकों को जिन्होंने इस ध्यान-शिविर में कदम बढ़ाए हैं स्वयं को उपलब्ध करने के लिए, होश का दीप जलाने के लिए, बिन बाजा की झंकार के लिए।





अन्तर-शुद्धि : जीवन-मुक्ति

ध्यान-शिविर में पधारे सभी मुमुक्षु आत्माओं को हृदय के प्रेम भरे प्रणाम। कहने भर को आज शिविर का समापन दिवस है, पर हकीकत में यह समापन नहीं जीवन के उद्घाटन का दिवस है। एक नई यात्रा के लिए आप लोगों के भीतर संकल्प जगा है। मैं देख रहा हूँ कि सभी असमंजस में हैं कि कैसे आज का दिन समापन-दिवस घोषित किया जाए। आज का दिन तो नये जीवन की शुरुआत का दिन है। लोगों के भीतर आनन्द निपजा। चाहे हँसी खिली या आँसू बहे, दोनों ही आनन्द के प्रतीक थे। हँसी के फव्वारों में से भी आनन्द झलक रहा था और प्यारी-प्यारी आँखों में से जो अमृत की बूँदें टपक रही थीं उन्हें देखकर ऐसा लग रहा था कि जन्म-जन्म से विषपायी इंसान आज निर्विष होने के लिए संकल्पबद्ध हो चुका है।

एक महानुभाव आए, कहने लगे - महाराजजी! आपका जोधपुर में चातुर्मास था, कई ध्यान-शिविर हुए, पर मैं चूक गया। इस चूक का अहसास विगत चार दिनों में नहीं आज हुआ। आज सुबह ध्यान से गुजरते हुए मैं गहराई में प्रवेश कर गया और मुझे लगा कि जीवन का आनन्द, जो मेरे भीतर छिपा हुआ था, सद्गुरु का सान्निध्य भी मिला था लेकिन मेरी चूक मुझे ही खा गई। कोई बात नहीं जो चूका सो गया, आज जाग गये, यही जीवन की उपलब्धि है। कोई आए और कहने लगे अगर संभव हो तो शिविर को पाँच दिन के लिए और बढ़ा दीजिए। मुझे लगा सचमुच इस माउण्ट आबू की धरती पर जहाँ प्राकृतिक सुषमा तो है ही, लेकिन इस धरती के कण-कण में

सिद्धत्व की आभा है, साधना की आभा है, ज्योतिर्मयता छिपी हुई है, यहाँ कई साधकों ने इस शिविर में स्वयं की ज्योतिर्मयता को उपलब्ध किया है।

गुरु का कार्य भीतर छिपी हुई ज्योति को दिखाना है, शेष ज्योतिर्मयता तो आप स्वयं ही उपलब्ध करते हैं। गुरु कभी प्रकाश नहीं देता, केवल ज्योति का अहसास कराता है। इसलिए जितना धन्यवाद आपके गुरु को है उससे भी अधिक धन्यवाद आपकी चेतना को है, जिसके भीतर यहाँ (माउण्ट आबू) आने के भाव जगे थे और स्वयं में डूबने, रमने और जीने की तरंग उठी थी।

किसने क्या पाया, वह स्वयं जानता है और गुड़ के स्वाद को गूँगा अभिव्यक्त करे, यह संभव नहीं है। आनन्द वह चीज़ है जिसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। सुख-दुःख की अभिव्यक्ति हो सकती है, पर स्वयं में लीन होने पर भीतर की चेतना में जो आनन्द की बूँदें बरसती हैं, आनन्द की फुहारें आती हैं, ऊषा की किरणें आती हैं उस आनन्द को व्यक्ति स्वयं ही पहचान पाता है। संसार कभी आनन्द नहीं दे सकता।

आप न जाने कितने वर्षों से दुनिया में जी रहे हैं। कभी करोड़पति बने, कभी रोडपति बने लेकिन दोनों घटनाओं ने जीवन में न आनन्द दिया और न आनन्द छीना। क्योंकि इनका आनन्द से कोई सरोकार ही नहीं था। जीवन में कभी सुख की वेला आई, कभी दुःख की घड़ियाँ आईं लेकिन दोनों ही बाहर से आयी थीं। करोड़पति और रोडपति भी बाहर से ही बने थे। संसार के मायाजाल में रचा-बसा व्यक्ति कभी सुखी तो कभी दुःखी होता है। यह सुख और दुःख तो क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। पानी के बुलबुले के समान जीवन में सुख-दुःख के बुलबुले कब उठेंगे, कब दब जाएँगे पता नहीं है। सुख-दुःख बाहर के निमित्त से पैदा होते हैं लेकिन जो व्यक्ति भीतर को उपलब्ध हो रहा है, वह सुख-दुःख से भी उपरत हो रहा है। हमारी यात्रा अशुभ थी; शुभ की ओर चली। प्रसन्नता की बात है। आज हमने शुद्धत्व को उपलब्ध किया है।

पाप हो या पुण्य, शुभ हो या अशुभ, बेड़ी चाहे लोहे की हो या सोने की, बेड़ी आखिर बेड़ी है, बंधन आखिर बंधन है। जितने भी मार्ग हैं सभी मार्ग किसी न किसी बंधन से, किसी न किसी जंजीर से जुड़े हैं, जो मनुष्य को यदा-कदा बंधन में डालते रहते हैं। बंधन सोने का हो या लोहे का, बंधन तो बंधन है। बंधन से मुक्त होने का एकमात्र मार्ग ध्यान है। संसार के धर्मों में विविधताएँ हो सकती हैं, अलग-अलग मार्ग हो सकते हैं, लेकिन सारे धर्मों के मार्ग में एक मार्ग एकदम से स्वीकार किया गया है, वह है 'ध्यान'। ध्यान के मार्ग को शायद ही किसी धर्म ने अस्वीकार किया

हो। मनुष्य का स्वभाव ध्यान है। चेतना का स्वभाव ध्यान है। यदि मनुष्य अपने स्वभाव से विलग होता है, तो अपने आनन्द से भी वंचित होता है। हमारे जीवन की यही चूक है कि हमारा ध्यान 'ध्यान' पर नहीं है। अपनी चेतना, अपनी आत्मा पर कोई ध्यान नहीं है। लोगों का सारा ध्यान देह पर, संसार और दुनियादारी पर टिका है। मनुष्य अपना सारा जीवन देह को स्वस्थ रखने, सजाने, सँवारने पर व्यतीत कर देता है। इसके बावजूद क्या वह अपनी चेतना को थोड़ा-सा सँभाल पाता है? सारा जीवन बिता दिया देहाध्यास करते हुए, देह के साथ जुड़ते हुए, देह को सँभालते हुए लेकिन क्या अपने भीतर की चेतना को सँवार पाए?

शरीर को थोड़ी भी तकलीफ हुई डॉक्टर के यहाँ गए, दवाइयाँ लीं। शरीर में जहाँ वेदना हुई, पीड़ा पनपी, जहाँ पर पीड़ा की अनुभूति हुई उसे स्वस्थ करने के लिए चिकित्सा का उपयोग किया गया। लेकिन भीतर की चेतना में कितने फोड़े हुए, उसके मवाद को निकालने के लिए कोई चिकित्सा की? अंग्रेजी में दो शब्द हैं जो सीधे हमारे जीवन के साथ जुड़े हैं। 'मेडीसिन' और 'मेडीटेशन' – दोनों मनुष्य के साथ जुड़े हैं। एक का संबंध व्यक्ति के शरीर के साथ है और दूसरे का संबंध हमारी अन्तर-चेतना के साथ है। शरीर को स्वस्थ रखना है तो मेडीसिन/दवाइयों का, औषधियों का उपयोग करना पड़ेगा और चेतना को स्वस्थ करना है तो 'मेडीटेशन' / ध्यान का उपयोग करना होगा।

एक बात सदा स्मरण में रखिए, व्यक्ति देह से चाहे जितना स्वस्थ हो जाए, लेकिन भीतर के निजानन्द स्वरूप को उपलब्ध नहीं हो पाया, भीतर के स्वभाव को उपलब्ध नहीं हुआ, अपनी चेतना को उपलब्ध नहीं कर पाया, तो वह कभी देहातीत स्थिति को प्राप्त नहीं कर पाएगा। उसका ध्यान देह में ही अटका रह जाएगा। जीवन की सांध्य वेला में भी वह देह में ही उलझा रहेगा। जो व्यक्ति ध्यान में डूब चुका है, अपनी आत्मा में डूब चुका है, उसके लिए मृत्यु, मृत्यु नहीं होती, मृत्यु भी निर्वाण की ज्योति बनकर आती है। जो स्वयं में उतर गया है, खुद में खुदा को खोजने लगा है, वह भला कभी मृत्यु के मुँह में आ पाएगा? मृत्यु से वे ही लोग घबराते हैं जो देह में जीते हैं। जिन्हें यही अहसास है कि देह ही आत्मा है वे ही मृत्यु से डरते हैं। लेकिन जो यह जानते हैं कि देह और आत्मा अलग है, वे मृत्यु का आलिंगन करते हैं। उनके लिए मृत्यु हो ही नहीं रही है सिर्फ चोले का परिवर्तन, वेश का रूपान्तरण हो रहा है। आज यहाँ थे कल वहाँ चले गए। इसके अलावा क्या बदला है?

दुनिया में सुख-शान्ति-चैन कायम करने के लिए, दुनिया को आनन्द देने के लिए मात्र गरीबी दूर कर देंगे तो आनन्द छा जाएगा ऐसी बात नहीं है। आज विश्व की

पचास फीसदी जनता के पास सारी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हैं, क्या फिर भी वह शांति से जी पा रही है? अगर हम यह सोचें कि दुनिया में सुख-वैभव भर दिया जाए और सभी रोटी-कपड़ा और मकान को पा लें, तो क्या यहाँ शांति कायम हो पाएगी? क्या भीतर की शांति को उपलब्ध कर पाएँगे? भीतर की शांति का संबंध इन पर-पदार्थों के साथ नहीं है। इसलिए मेडीसिन के साथ दूसरा शब्द आया 'मेडीटेशन'। अपने स्वभाव में उतरो, ध्यान में डूबो और प्रतिपल-प्रतिक्षण इसकी अनुभूति करने का प्रयास करो कि देह अलग है, चेतना अलग है। परीक्षा की घड़ी में भी अहसास बना रहे कि चेतना और देह अलग है।

यह बात आप बहुत पहले से जानते हैं कि चेतना और देह अलग-अलग है। लेकिन जब भी परीक्षा की वेला आई आप चूक गए और देह को ही आत्मा मान बैठे। भगवान महावीर की गाथा है -

‘सीसं जहां सरीरस्स जहा मूलं दुमस्स य।
सव्वस्स साहु धम्मस्स तहा ज्ञाणं विधीयते ॥’

‘मनुष्य के शरीर में सबसे महत्त्वपूर्ण उसका मस्तिष्क है। अगर मस्तिष्क खो गया, तो शरीर बेकार हो गया। वृक्ष में सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व जड़ें हैं। पत्ते काट दोगे, फल-फूल तोड़ लोगे, डालियाँ-तना काट दोगे, अधिक फ़र्क़ न होगा लेकिन जड़ ही काट दोगे तो वृक्ष का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। जिस तरह मनुष्य के शरीर में मस्तिष्क महत्त्वपूर्ण है, वृक्ष में जड़ महत्त्वपूर्ण है, उसी तरह साधना के जितने भी आयाम हैं उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व ध्यान है। ‘सव्वस्स साहु धम्मस्स तहा ज्ञाणं विधीयते’ - दुनिया के जितने भी श्रेयस्कर प्रमुख हैं उनमें सबसे श्रेयस्कर मार्ग ध्यान है। ध्यान के माध्यम से ही व्यक्ति देहाध्यास से, जड़ता के व्यामोह से दूर हटकर, अपनी चेतना में लौटकर आता है। संसार के दलदल में रहकर भी उससे ऊपर उठा रहता है।

ध्यान ही एकमात्र ऐसा तत्त्व है जिससे सब सहमत हो जाएँगे। अगर आप संसार त्याग कर साधु या साध्वी बनना चाहें तो संभव है आप ऐसा न कर पाएँ क्योंकि घर, परिवार, बच्चों का मोह बाधा बन जाएगा, लेकिन ध्यान! इसके लिए तो कुछ भी नहीं छोड़ना है। संन्यास के लिए तो पूरा संसार छोड़ना होगा, लेकिन ध्यान में डूबने के लिए आप जहाँ, जैसे, जिस अवस्था में हैं डूब सकते हैं। संन्यास लेने के लिए परिवार की आज्ञा लेनी होगी, दुकान का मोह छोड़ना होगा, पद-प्रतिष्ठा को तिलांजलि देनी होगी, तब भी अ-मन मुनि हो जाओ कोई निश्चित नहीं, लेकिन ध्यान तो संसार में रहकर भी संन्यास का फूल खिलाना है।

ध्यान के द्वारा संसार में होते हुए भी कमलवत् जीना है। ध्यान तो स्वयं में जीने की प्रक्रिया है। ध्यान के लिए आपको कहीं जाना नहीं पड़ता। सारा परिवार सो गया आप भी सो रहे हैं अचानक आँख खुली, होश आया और ध्यान में निमग्न हो गए। बेटा तो सोचेगा पिताजी सो रहे हैं, पर आप अपने में हो रहे हैं। ध्यान तो सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, यहाँ-वहाँ चाहे जहाँ कर सकते हैं।

ध्यान सहज मार्ग है। ध्यान कोई गहन-गंभीर साधना नहीं है। गंभीर साधना तो वह है जहाँ आप अपने स्वभाव से विपरीत कार्य करते हैं। ध्यान तो सहजता में जीना है। स्वभाव में जीना है। आपके सारे प्रयास आपके स्वभाव के विपरीत हैं। आपका क्या ख्याल है कि क्रोध करना मनुष्य का स्वभाव है? नहीं; क्षमा, प्रेम और करुणा हमारा स्वभाव है। फिर भी हम क्रोध किए चले जाते हैं। एक बार क्रोध करने में जितनी ऊर्जा का क्षय होता है, वह पूरे दिन की संचित ऊर्जा होती है, जबकि क्षमा में इसकी आधी ऊर्जा ही व्यय होती है बल्कि कहना चाहिए कि ऊर्जा संचय भी होती है।

यह मत कहो कि दुनिया स्वर्ग पाने के लिए दौड़ रही है। सच्चाई यह है कि स्वर्ग को पाने की दौड़ कहने भर की है, अन्ततः यह दौड़ नरक में ही ले जा रही है। मनुष्य की ऊर्जा का व्यय-अपव्यय नरक के लिए हो रहा है। जितनी ऊर्जा व्यय करके मनुष्य नरक का संसार रच रहा है, उससे आधी ऊर्जा, एक-चौथाई ऊर्जा का उपयोग वह सार्थक कार्यों में कर ले तो जीवन स्वयं स्वर्ग बन जाए। वस्तुतः हमें जीवन में इस संकल्प को दोहराना पड़ेगा कि शायद मैं संन्यासी न बन पाऊँ, वेश-रूपान्तरण न कर पाऊँ, लेकिन जीवन का रूपान्तरण तो कर सकता हूँ। संसार के बीच रहकर जीवन का रूपान्तरण हो जाए तो अति उत्तम। एक व्यक्ति वह है जो घर-बार त्याग कर जंगलों में साधना कर रहा है, दूसरा वह है जो कीचड़ में कमल की भाँति परिवार के मध्य साधनारत है, इन दोनों में दूसरा गृहस्थ होते हुए भी मुक्तात्मा है।

यह भी आवश्यक नहीं है कि हिमालय की गुफाओं में साधनारत व्यक्ति साध्य को उपलब्ध हो ही गया हो। वह वहाँ रहकर भी दिल्ली की कल्पनाएँ कर सकता है और आप दिल्ली में रहकर हिमालय की गुफाओं की, वहाँ की साधना की, वहाँ के आभामंडल की कल्पना कर सकते हैं। साधना का संबंध न स्थान के साथ है, न देह के साथ है, न वातावरण के साथ वरन् व्यक्ति के स्वयं के साथ है। यह न सोचें कि कभी साधु बनेंगे, प्रब्रज्या ग्रहण करेंगे, दीक्षा लेंगे तब साधना, जप-तप करेंगे। नहीं! वह वेला आएगी तब तो उसका स्वागत है लेकिन संकल्प आज से ही प्रारम्भ करना होगा, अनासक्ति की पहल करनी होगी। मनुष्य के जीवन में विकास का अवरोधक

तत्त्व ही आसक्ति है। आसक्तियाँ रखकर व्यक्ति ध्यान की गहराई में नहीं उतर पाएगा। ध्यान करने बैठे, एक मच्छर ने काटा, ध्यान भंग हो गया क्योंकि देह की आसक्ति जुड़ी है। ध्यान बार-बार भंग होता रहता है क्योंकि आसक्ति लौट-लौटकर जुड़ती रहती है। अनासक्त-योग जीवन में आत्मसात् करना होगा। जहाँ तक संभव हो, अपने संबंधों को धीरे-धीरे हल्का करने का, समेटने का प्रयास करो। धीरे-धीरे अन्तर में मौन घटित हो जाने दो।

हमारे आस-पास अमृत बरसाने वाले तो बहुत से गुरु हैं लेकिन सबसे पहले अपने भीतर के विष को तो बाहर निकालो। अमृत की बूँद तो कहीं न कहीं से टपक ही पड़ेगी लेकिन हमारे भीतर का जो पात्र विष से सना हुआ है वह अमृत को भी ज़हर में बदल देगा। जब तक यह पात्र साफ नहीं होगा व्यक्ति अपनी चेतना को उपलब्ध नहीं हो पाएगा। भीतर के विष को बाहर उलीचो। मनुष्य जन्म-जन्म से विषपायी रहा है और शायद आत्म-चिंतन की वेला अब आई है। माना कि ध्यान-शिविर में आपने अमृत को पाया है लेकिन बाहर जाकर ज़हर पीने की कोशिश मत करना। जब-जब भी बाहर ज़हरीला वातावरण उपस्थित हो भीतर यह संकल्प दोहराना कि मैं ज़हर पीने के लिए नहीं, अमृत-पान के लिए धरती पर आया हूँ। जब क्रोध की तरंगें पैदा हों, कषाय का वातावरण उपस्थित हो, मान-माया, लोभ की वेला आए, अहंकार किसी से टकराए तब हर उस स्थिति के पीछे अपने संकल्प को दृढ़ करना कि मैं यह सब करने के लिए नहीं, स्वयं को पाने के लिए मनुष्य बना हूँ। ज़हर उलीचना है, अमृत उपलब्ध करना है। हम बाहर जाएँ, औरों से व्यवहार करें, तो उस पर ध्यान की मुहर होनी चाहिये।

ध्यान की उपलब्धि यही है कि भीतर का कचरा, भीतर का ज़हर साफ हो जाए। अमृत की दो बूँदें भी ज़हर में मिलकर ज़हर बन जाती हैं। गुरु-कृपा से, परमात्म-कृपा से दो बूँद अमृत पा जाओ तो उसे सहेजकर रखना ताकि ज़हर में न मिल पाए।

परमात्मा की कृपा से बहुत मिला है फिर किस आसक्ति में जी रहे हो। कभी यह न सोचो कि कम मिला है। हमारी जितनी योग्यता थी, जितना पात्र था उससे कहीं अधिक मिला है। जो यह सोचता है कि मुझे जो मिला है मेरी योग्यताओं से अधिक है। मेरी पात्रता से अधिक है उस व्यक्ति के जीवन में सुख और दुःख की घटनाएँ समतापूर्वक घटेंगी। वह जानेगा कि गाली भी मिली तो परमात्मा का प्रसाद है और मुस्कान मिली तो वह भी परमात्मा का प्रसाद। लोग मिठाई तो प्रसाद मानकर खा लेते हैं और गाली हजम नहीं कर पाते। गाली को भी परमात्मा का प्रसाद मानो। जब परमात्मा ने शरीर दिया तो उसे कभी धन्यवाद न दिया। उसने तुम्हारे शरीर में एक-

एक महत्वपूर्ण अंग की रचना की, उसके लिए कृतज्ञ न हुए, लेकिन रास्ते में ठोकर लग गयी, चोटग्रस्त हो गए तब जरूर परमात्मा को कोसा कि तेरे ही मंदिर आ रहा था और तूने ही पाँव तोड़ दिया। जब शरीर को परमात्मा का प्रसाद समझकर जी रहे थे, तो पाँव के टूटने को भी उसी का प्रसाद समझ लो। जो भी मिल रहा है उसे प्रभु का प्रसाद मानकर अहोभाव के साथ स्वीकार कर लो तो गाली में से भी गीत के झरने फूट पड़ेंगे।

कहते हैं भगवान कृष्ण के सोलह हजार रानियाँ थीं फिर भी उन्हें अनासक्त योगी कहा गया है। सोलह हजार के बीच भी वह अनासक्त भाव से जी सके और तुम एक-दो के बीच भी कितने अधिक फँस चुके हो, कुछ अहसास है? कहीं ऐसा न हो कि यह शिविर यहीं रह जाए और हम पुनः आसक्ति के दायरे में उलझ जाएँ। हम आसक्ति के दलदल से ऊपर उठें। यह भाव आत्मसात् हो जाने दो कि सीमाओं से ऊपर उठकर मैं तो सारे ब्रह्माण्ड के लिए हो चुका हूँ। उस अनन्त ब्रह्माण्ड के लिए, जो मेरे अपने भीतर है।

एक बात सदा स्मरण में रखिए कि जब तक व्यक्ति स्वयं को उपलब्ध नहीं होता, तब तक धर्म के रास्ते भी गलियारों में चहल कदमी करने के समान होंगे। उसे शिखर के करीब पहुँचकर भी वापस तलहटी से यात्रा प्रारंभ करनी पड़ेगी।

अमरीका में दो दोस्त एक होटल की पचासवीं मंजिल पर ठहरे। रात्रि में नौ से बारह का फिल्म शो देखने गए। अर्ध रात्रि के बाद वापस आए। लिफ्टमैन ने बताया कि लिफ्ट खराब हो गयी है। गर्मी का मौसम था। कोई सहारा न था। सीढ़ियों से पैदल ही चढ़ना पड़ेगा। चढ़े, दोनों पहली मंजिल पर पहुँचे। एक दोस्त ने दूसरे को सुझाव दिया जब पैदल ही चढ़ रहे हैं तो यह सामान और कोट वगैरह क्यों ढो रहे हैं। गर्मी है, यहीं उतार देते हैं, कल सुबह नीचे आकर वापस ले जाएँगे। सुझाव अच्छा लगा। वे वापस नीचे आए। अपना कोट और अन्य सामान लिफ्टमैन को दे दिया। फिर चढ़ना शुरू किया। पैंतालीस मंजिल तक पहुँच गए, चढ़ते-चढ़ते थक गए थे। सोचा, अब तो पाँच मंजिल ही हैं चलो! दो मंजिल और चढ़े। अब तां तीन ही शेष हैं, चलो, एक मंजिल और पार की। अचानक एक दोस्त को कुछ याद आया। उसने कहा, 'एक बात पूछूँ', 'पूछो' दूसरा बोला। पहले ने कहा, 'अपन अड़तालीस मंजिल आ गए हैं दो ही शेष है, पर रूम की चाबी कहाँ है।' 'रूम की चाबी' दूसरा घबराया, 'अरे रूम की चाबी तो कोट की जेब में ही रह गई' 'भैया अब तू ही बता अपन अड़तालीसवीं मंजिल पर हैं या पहली मंजिल पर, इसका बोध तू ही कर ले,' पहले ने कहा।

मैं आपसे यही कहना चाहूँगा। अपने स्वभाव को, निज-चेतना को उपलब्ध किये बिना, स्वानुभव के बिना अगर लम्बी-ऊँची यात्राएँ कर भी लीं तो वहाँ यही प्रश्नचिन्ह रहेगा कि तुम कहाँ पहुँचे? स्वयं को कहाँ खोकर आए हो? इसलिए ध्यान का पहला धर्म है कि व्यक्ति स्वयं को पहचानने की कोशिश करे। वह सर्वज्ञ है जो स्वयं को सर्व-विधि जानता है। वे भी सर्वज्ञ होने के करीब हैं जिनमें चेतना का अहसास है। जो स्व का ज्ञाता है वह सर्वज्ञ है। आचारांग में प्रभु ने कहा, 'जे एगं जाणई, से सव्वं जाणई' - जो एक को जानता है वह सबको जानता है। जिसने एक को, अपने-आप को न जाना उसने सारी दुनिया को जान भी लिया तो क्या जाना? माना कि आपने दुनिया के बारे में ढेरों जानकारियाँ इकट्ठी कर लीं लेकिन जब यह चोला बदल जाएगा, तो सारी जानकारियाँ निरर्थक हो जाएँगी। देह कहीं और गिर जाएगी, चेतना अपना बसेरा कहीं और कर लेगी, तब उन जानकारियों का क्या होगा।

पुद्गल, जड़ पदार्थों के प्रति भाव-राग को खोने का प्रयास कीजिए। ये जितना खोएँगे चेतना स्वयं में आएगी। प्रभु का वचन सार्थक होगा यदि अपने भीतर के शून्यत्व को पहचानने की कोशिश करो। जब तक भीतर का मौन उपलब्ध नहीं होगा तब तक साधना के मार्ग पर सही कदम नहीं बढ़ा पाओगे।

साधना के पथ पर फिर से कदम बढ़ाइए,
अपने को पहले बिल्कुल खाली बनाइए।

कितने भरे हैं अन्दर कुछ न समाता,
अद्भुत कुछ घटने वाला घटने न पाता,
शून्य करने का कुछ-कुछ श्रम तो उठाइए।

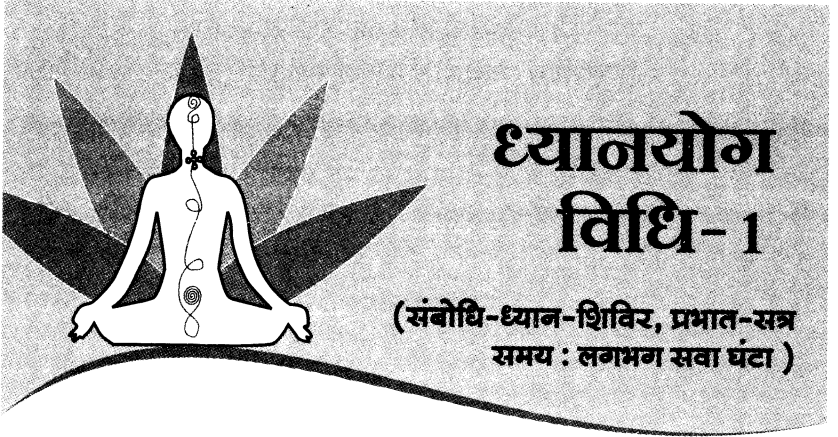
कूप ऊपर का पानी लेना चाहता,
अन्तर के झरनों से वह खुद भर जाता,
व्यर्थ के विकल्पों में गोते न खाइए।

शक्कर भरी हो चाहे धूल भरी हो,
सोने की सांकल हो या लोहा जड़ी हो,
शुभाशुभ दोनों त्यागो, शुद्ध बन जाइए।

भीतर के शून्य से, मौन से साधना आगे बढ़े, फिर देखें अस्तित्व कैसा अमृत बरसाता है हमारे तन-मन पर, प्राण-महाप्राण पर, चैतन्य-जगत् पर।

अमृत प्रेम, नमस्कार शुभाशीष! मस्त रहें, व्यस्त रहें व ध्यानस्त रहें।





ध्यान-शिविर सामूहिक प्रयोग होते हुए भी हर व्यक्ति के लिए निजी प्रयोगशाला है। एकाधिक लोगों द्वारा सम्मिलित प्रयास इसलिए किया जा रहा है, ताकि एक-दूसरे का आभामंडल उन्हें भी प्रभावित और तरंगित करे, जो अन्तर्यात्रा के लिए पूरी तरह उत्सुक नहीं है। एक-दूसरे को आगे बढ़ते हुए देखकर हमें भी आगे बढ़ने का प्रोत्साहन मिलता है। शारीरिक शुद्धि और सहज स्फूर्ति के लिए स्नान अवश्य कर लें। उज्ज्वलता के प्रतीक स्वरूप श्वेत वस्त्र पहनें तो ज्यादा उपयोगी है। हल्का पीला अथवा गुलाबी रंग भी हमारी भाव-स्थिति को सुकून देता है। श्वेत रंग पवित्रता और आध्यात्मिकता का प्रतीक है, पीला रंग बोधि और निर्वाण का द्योतक है। उल्लास उत्सव और अहोभाव का प्रतीक गुलाबी रंग है।

भाव-शुद्धि

प्रार्थना

10 मिनट

सभी साधक पंक्तिबद्ध बैठ जाएँ, एक दूसरे से पाँच फीट की दूरी बनाए रखें करबद्ध होकर 'नमस्कार-महामंत्र' का तीन बार सस्वर पाठ करें।

नमस्कार महामंत्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं,
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं

एसो पंच णमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवई मंगल ।*

ध्यान-भावना की समृद्धि के लिए अब हम भावपूर्वक जीवन-गीत गाएँ।
जीवन-गीत का भावार्थ हृदय में उतारते हुए सस्वर पाठ करने से आध्यात्मिक
संकल्प और अहोभाव का विकास होता है, ध्यान में उतरने की भावनात्मक भूमिका
निर्मित होती है।

जीवन-गीत

मानव स्वयं एक मंदिर है,
तीर्थ रूप है धरती सारी
मूरत प्रभु की सभी ठौर है,
अन्तर्दृष्टि खुले हमारी ॥
जीवन का सम्मान करें हम,
जीवन में भगवान् निहारें।
रूपांतरित करें जीवन को
जीवन को ही स्वर्ग बनाएँ।
मानवता के मन-मंदिर में,
संबोधि का दीप जलाएँ।
अन्तर्-शून्य उजागर करके,
आनन्द-अमृत से भर जाएँ ॥
भीतर की नीरवता पाकर,
ध्यान-प्रेम की बीन बजाएँ।
अपने मन की परम शान्ति को,
सारी धरती पर सरसाएँ ॥

शरीर-शुद्धि

योगाभ्यास

15 मिनट

योगाभ्यास शारीरिक और मानसिक तनाव-मुक्ति के लिए सहज-सरल
उपयोगी क्रियाएँ हैं। ध्यान में उतरने के लिए दो बातें सहायक हैं -

* भावार्थ : अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुजनों को नमस्कार हो। यह पंच
नमस्कार समस्त पापों का नाश करने वाला और सर्व मंगलों में प्रथम मंगल-रूप है।

1. शारीरिक जड़ता की समाप्ति ।

2. शारीरिक स्थिरता की प्राप्ति ।

ध्यान-मार्ग पर पहले-पहल कदम बढ़ाने वालों का न केवल चित्त चंचल होता है, वरन् उनमें शारीरिक स्थिरता और स्वस्थता का भी अभाव होता है। ध्यान की गहराई में जाने की बजाय तंद्रा में डूब जाने की संभावना रहती है।

शरीर माध्यम है और माध्यम का स्वस्थ, निर्मल और अनुकूल होना आवश्यक है। ध्यान की प्रारंभिक अवस्था में दैनंदिन अभ्यास के लिए सुबह-शाम दोनों समय लगभग एक घंटे, एक ही आसन में तनाव-रहित स्थिरतापूर्वक बैठने की क्षमता साधक में होनी वांछित है। यह तभी संभव है जब हमारे शरीर के अंग-प्रत्यंग में पर्याप्त लोच हो, कोई जकड़न न हो, स्नायविक शांति हो और शरीर के जोड़ों तथा नस-नाड़ियों में दूषित वायु आदि का अन्य विकार अवरुद्ध न हो। प्राणवायु के आगमन, दूषित वायु के निर्गमन एवं रक्त-संचार में कोई बाधा न हो, क्योंकि ये ही हमारे संजीवनी-शक्ति के संचार के माध्यम हैं।

अतः ध्यान से पहले सुबह थोड़ा योगाभ्यास करना लाभदायक है। योगाभ्यास को हम निम्न पाँच चरणों में पूरा करेंगे -

1. संधि-संचालन -	3 मिनट
2. स्थिर दौड़ -	2 मिनट
3. योगासन -	3 मिनट
4. योगचक्र -	4 मिनट
5. श्वासन -	3 मिनट

1. संधि-संचालन

शरीर में मुख्य रूप से गर्दन, कंधे, कोहनी, कलाई, कमर, घुटने, टखने, अँगुलियों के जल - ये संधि-स्थल हैं।

दैनंदिन क्रिया-कलापों में इन संधि-स्थलों के अनियमित उपयोग के कारण इनमें जकड़न पैदा हो जाती है, जो शारीरिक स्थिरता और स्वस्थता में बाधक है। इन संधि-स्थलों के मुक्त संचालन के लिए हम निम्न व्यायाम करें -

(क) पद-संधि संचालन : नीचे बैठे जाएँ। दोनों पैरों को सामने की तरफ फैला लें। हाथों को घुटनों पर रखें। रीढ़ की हड्डी और गर्दन सीधी हो। पैर के पंजों को मिलाकर तीन-तीन बार आगे-पीछे झुकाएँ। तत्पश्चात् दोनों पंजों को तीन बार

दाहिनी ओर से बायीं ओर तथा तीन बार बायीं ओर से दाहिनी ओर गोल घुमाएँ।

(ख) हस्त-संधि संचालन : हाथों को ज़मीन के समानान्तर सामने की तरफ फैलाएँ। हथेलियों और अँगुलियों को पूरा खोलें। अब अँगुलियों के प्रत्येक जोड़ पर जोर डालते हुए, मुट्टियाँ कसते हुए सीने की तरफ ले जाएँ। मुट्टियाँ खोलते हुए पुनः हाथ फैलाएँ। तीन-तीन बार इस क्रिया को दोहराएँ।

हाथों को पूर्ववत् फैला रहने दें। मुट्टियाँ बंद करें। कलाई के जोड़ों को धीरे-धीरे गोल घुमाएँ। तीन बार दाहिनी तरफ से, तीन बार बायीं तरफ से। ध्यान रहे, हाथ सीधे रहें।

(ग) स्कंध-संचालन : हाथों को कोहनी से मोड़कर अँगुलियों की अंजलि-सी बनाकर कंधों पर रखें और कोहनियों के साथ कंधों के जोड़ों को तीन बार आगे से पीछे की ओर तथा तीन बार पीछे से आगे की ओर गोलाकर घुमाएँ। ध्यान रहे कि इस पूरी प्रक्रिया में अँगुलियाँ कंधों पर रखी रहें।

(घ) गर्दन-संचालन : गर्द-संचालन क्रिया के तीन चरण हैं : पहले चरण में साँस भरें, गर्दन को सामने की तरफ झुकाकर टुड्डी को कंठ-कूप से लगाने का प्रयास करें। फिर धीरे-धीरे साँस छोड़ते हुए गर्दन पीछे की तरफ ले जाएँ और सिर का पिछला हिस्सा पीठ से लगाने का प्रयास करें। तीन बार आगे-पीछे इस क्रिया को दोहराएँ।

द्वितीय चरण में गर्दन को बारी-बारी से तीन-तीन बार दायें-बायें घुमाएँ।

तृतीय चरण में गर्दन को पूरा गोल घुमाएँ। तीन बार दाहिनी तरफ से घुमाने के उपरांत तीन बार बायीं तरफ से इसी तरह गोल घुमाएँ।

इस क्रिया को सावधानीपूर्वक धीरे-धीरे करें। गर्दन में कोई झटका/जर्क न आने पाए।

(ड) कटि-संधि संचालन : यह कमर एवं रीढ़ का व्यायाम है। खड़े हो जाएँ। इसे दो चरणों में पूरा किया जाता है। पहले चरण में पैरों को परस्पर जोड़े रखें। दोनों हथेलियों को कमरबंध पर रख लें और फिर कमर के निचले हिस्से को तीन बार दायीं ओर से तथा तीन बार बायीं ओर से गोलाकार घुमाएँ।

दूसरे चरण में पाँवों के बीच डेढ़ फुट की दूरी रखते हुए हाथों को पंखों की तरह फैला दें और शरीर के ऊपरी हिस्से को क्रमशः दायीं और बायीं ओर से पीछे की तरफ मोड़ें। ध्यान रहे शरीर का नीचे का भाग स्थिर रहे।

2. स्थिर दौड़

शरीर के आलस, प्रमाद और तमस् को मिटाने के लिए स्थिर/खड़ी दौड़ की जाती है। इसे पारम्परिक शब्दावली में कदमताल कहते हैं और प्रचलित भाषा में जॉगिंग। इससे शरीर में स्फूर्ति और ऊर्जा का संचार होता है।

इसके लिए अपने आसन पर ही खड़े-खड़े दौड़ लगाएँ। धीरे-धीरे गति बढ़ाएँ और धीरे-धीरे कम करें। ध्यान रहे पाँवों की पिंडलियाँ जंघाओं से स्पर्श करें।

अब हम सुगमतापूर्वक कुछ योगासन कर सकते हैं।

3. योगासन

योगासनों में शरीर की प्रत्येक यौगिक क्रिया को सहजता और तन्मयता से किया जाता है और पूरी प्रक्रिया में श्वास-प्रश्वास पर ध्यान केंद्रित रखा जाता है। हम निम्न योगासन संपादित करें -

(क) अर्द्ध-कटि चक्रासन : पाँवों को एक-दूसरे से सटाकर सावधान-मुद्रा में खड़े हो जाएँ। साँस भरते हुए दायाँ बाँह ऊपर उठाएँ। कंधे की सीध पर हाथ के आते ही हथेली को ऊपर की ओर मोड़ें। फिर बाँह को ऊपर उठाते हुए कान से चिपका लें। ऊपर खिंचाव दें। अब धीरे-धीरे कमर से बायीं ओर झुकें। बायीं हथेली को बायें पैर के घुटने से जितना नीचे संभव हो, ले जाएँ। झुकते हुए साँस छोड़ें। ध्यान रहे कोहनी और घुटने मुड़ने नहीं चाहिए। सामान्य रूप से साँस लेते हुए अपने सामर्थ्य के अनुसार आसन की स्थिति में रहें, फिर धीरे-धीरे साँस भरते हुए सीधे हों, दायाँ हाथ नीचे ले आएँ। अब यही क्रिया बायीं ओर से दायाँ ओर झुककर करें। पूरे आसन के दौरान रक्त-प्रवाह में आते परिवर्तन पर ध्यान रखें।

यह आसन रीढ़ को स्वस्थ और लचीला बनाता है, पाचन-क्रिया को सुधारता है, स्नायुओं को सक्रिय करता है।

(ख) त्रिकोणासन : सीधे खड़े हो जाएँ। दोनों पैरों के बीच लगभग एक मीटर की दूरी रखें। दोनों हाथों को कंधों के समानान्तर दायें-बायें फैलाएँ। साँस भरें। साँस छोड़ते हुए धीरे-धीरे सामने झुकते हुए दायें हाथ से बायें पाँव के अँगूठे को स्पर्श करें। बायाँ हाथ ऊपर आसमान की ओर उठेगा। गर्दन को ऊपर की ओर घुमाते हुए दृष्टि को बायें हाथ की हथेली पर स्थिर करें। सामान्य साँस लेते हुए सामर्थ्य भर आसन की स्थिति में रुकें। घुटने नहीं मुड़ने चाहिए। धीरे-धीरे सामान्य स्थिति में आ जाएँ। फिर इसे बायीं तरफ से दोहराएँ।

यह आसन जाँघ, पीठ, पेट और पैर के तलुओं की मांस-पेशियों के लिए उत्तम व्यायाम है। मधुमेह, किडनी, लीवर और आमाशय के रोगों पर इससे नियंत्रण होता है। सम्पूर्ण देह में ऊर्जा और स्फूर्ति का संचार होता है।

4. योग-चक्र

योग-चक्र सर्वांग व्यायाम है। यह बारह आसनों और योग-मुद्राओं की एक क्रमबद्ध शृंखला है। इसे पारस्परिक शब्दावली में 'सूर्य-नमस्कार' कहते हैं। इसके दैनिक अभ्यास से शारीरिक जड़ता मिटती है। शरीर स्वस्थ, बलिष्ठ और कांतिमय होता है, पाचनशक्ति का विकास होता है, रक्त एवं प्राण का संचार सुचारु होता है; साथ ही मानसिक एवं शारीरिक शक्तियों का विकास होता है और आंतरिक पवित्रता बढ़ती है। आवेश और विकल्पों में शिथिलता आती है। आत्मिक तेजस्विता से पूर्ण आभास का विकास होता है। साहस, निडरता और आत्म-विश्वास में वृद्धि होती है। यह प्रक्रिया प्रातःकालीन ध्यान से पूर्व की होती है।

विधि : सूर्य अथवा अपने इष्ट की ओर मुँह करके 'नमस्कार-मुद्रा' में खड़े हो जाएँ। हृदय में पूर्ण समर्पण-भाव जाग्रत करते हुए ज्योति-स्वरूप परमात्मा को प्रणाम करें और अग्रलिखित मंत्र तीन बार उच्चारित करें -

तसमो मा ज्योतिर्गमय।
असतो मा सद्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय ॥*

तत्पश्चात् योगचक्र की एक-एक मुद्रा सम्पादित करें।

पहली मुद्रा : हस्त-उत्तान आसन

साँस भरते हुए दोनों हाथों को ऊपर की ओर उठाएँ। भुजाएँ कान से लगी हुई हों। जितने हो सके, हाथ और सिर को पीछे की ओर झुकाएँ।

दूसरी मुद्रा : पादहस्तासन

साँस छोड़ते हुए धीरे-धीरे आगे की ओर झुकें। हाथ को पैरों के पास ज़मीन पर रखने का प्रयास करें। सिर को घुटनों से लगाएँ। घुटनों को सीधा रखें, घुटने मुड़ने न पाएँ। ध्यान रखें जितना झुक सकें, उतना ही झुकें, जबरदस्ती न करें।

तीसरी मुद्रा : अश्व-संचालन-आसन

हाथों को ज़मीन पर ही रखें। साँस भरते हुए दायें पैर को पीछे की ओर ले जाएँ

* भावार्थ : हे प्रभु, ले चलो अंधकार से प्रकाश की ओर, असत् से सत् की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर।

और घुटनों को ज़मीन का आधार दें। बायें पाँव की जंघा को पिंडली से जोड़ें। बायाँ पाँव दोनों हथेलियों के बीच हो। दृष्टि ऊपर की ओर हो। बैठक को नीचे की ओर दबाव दें।

चौथी मुद्रा : तुला-आसन

तीसरी मुद्रा में बायाँ पैर जो आगे रहा, उसे पीछे फैलाकर दायें पैर के पास लाएँ और हाथ-पाँव के बल शरीर को सीधा रखें – झुकी हुई तराजू की तरह।

पाँचवीं मुद्रा : शशांक-आसन

पंजों और घुटनों के बल वज्रासन में बैठ जाएँ हाथ ज़मीन से लगे रहेंगे। सिर दोनों हाथों के मध्य रहेगा तथा ललाट भूमि पर दोनों नितम्ब एड़ियों पर टिके रहेंगे।

छठी मुद्रा : साष्टांग प्रणाम-आसन

पेट के बल उल्टा लेट जाएँ, हाथ सीधे सामने की ओर रखें। शरीर पूरा ढीला रखें। गर्दन को सीधा करें, ललाट ज़मीन से स्पर्श हो और प्रणाम-भाव के साथ तीन गहरी साँस लें।

सातवीं मुद्रा : भुजंगासन

दोनों हथेलियों को पसलियों के पास धरती पर टिकाकर कंधे और नाभि के हिस्से को साँस भरते हुए ऊपर की ओर उठाएँ – नागफन की तरह।

आठवीं मुद्रा : धनुरासन

ज़मीन पर उल्टा लेट जाएँ। पैरों को घुटने से कमर की ओर मोड़ें। हाथों से पैरों को टखनों के पास पकड़ें। शरीर को दोनों ओर से भीतर खींचने का प्रयास करें। सिर ऊपर की ओर उठाएँ।*

नौवीं मुद्रा : पर्वतासन

साँस छोड़ते हुए हथेलियों को सामने फैलाकर ज़मीन पर रखें। पैरों को सीधा करें। कमर को धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठाएँ। हाथ और पाँव के बल पर्वताकार में स्थिर हों। एड़ियों को ज़मीन पर लगाने का प्रयास करें।

दसवीं मुद्रा : अश्व-संचालन-आसन

यद्यपि यह तीसरी मुद्रा की पुनरावृत्ति है, किंतु इसमें दायाँ पैर दोनों हाथों के बीच रहेगा और बायाँ पैर पीछे की ओर फैला हुआ।

* सातवीं मुद्रा में भुजंगासन, आठवीं मुद्रा में पर्वतासन और नौवीं मुद्रा में शशांक-आसन भी मान्य है।

ग्यारहवीं मुद्रा : पाद-हस्तासन

यह दूसरी मुद्रा की स्थिति है। पाँव के अँगूठे से हाथ की अँगुलियाँ स्पर्श करें और सिर घुटनों को।

बारहवीं मुद्रा : हस्त-उत्तान आसन

साँस भरते हुए धीरे-धीरे सीधे खड़े हों, हाथों को आसमान की ओर उठाकर पहली मुद्रा संपन्न करें।

नमस्कार-मुद्रा में खड़े हों। परमात्मा का स्मरण करें और हाथों की अँगुलियों को कमल की पंखुडियों की तरह फैलाएँ। बड़े प्रेम और अहोभाव के साथ यह श्रद्धा-सुमन परम पिता परमात्मा को समर्पित करें।

5. श्वासन

आसनों के बाद श्वासन किया जाना चाहिए। यह योगाभ्यास की पूर्णाहुति है।

पीठ के बल चित लेट जाएँ। गर्दन अपनी सुविधानुसार दायें या बायें निढाल छोड़ दें। पैरों के बीच एक फुट की दूरी हो। जाँघों, पिंडलियों और पंजों में कोई तनाव न रहे। दोनों हाथों को शरीर से थोड़ा दूर रखें। हथेलियाँ आसमान की ओर खुली हुई हों और आँखें बंद।

शरीर से अपनी पकड़ को छोड़ें। पूरे शरीर को मानसिक रूप से देखें। शरीर के कौन-कौन से अंग विशेष तनावग्रस्त हैं, उन्हें देखें, अनुभव करें और ढीला छोड़ें। शिथिलता का अनुभव करें। अब पैर के अँगूठे से प्रारम्भ कर सिर के बालों तक, चित्त को एक-एक अंग पर स्थिर करें और उसे तनाव-मुक्त का सुझाव दें। जैसे -

दायें पैर का अँगूठा तनाव-मुक्त हो जाये।

तनाव-मुक्त हो रहा है।

तनाव-मुक्त हो गया है। (शिथिलीकरण अवश्य करें।)

प्रत्येक अंग पर ध्यान केन्द्रित कर इसी सुझाव को दोहराएँ। ऐसा अनुभव करें कि हम शरीर नहीं, शरीर से भिन्न चेतन-सत्ता हैं। शरीर से हमारा तादात्म्य छूट चुका है। शरीर को शव की तरह अपने से अलग पड़ा हुआ देखें। साँस की गति को भी स्वसूचन द्वारा शिथिल और मंद करें। कुछ क्षण साँस को पूर्णतः बाहर ही रोके रहें, अर्थात् साँस छोड़कर फिर साँस न लें। पूर्ण शिथिलता का, विश्राम का अनुभव करें। यथाशक्ति कुछ देर इसी स्थिति में रुककर धीरे-धीरे गहरी लंबी साँस भरें। पूरे शरीर पर अपनी चैतन्य-दृष्टि दौड़ाएँ और साँस के साथ शरीर में प्रवेश करें। शरीर के

प्रत्येक अंग में चेतना का संचार करें। धीरे-धीरे हाथ-पैरों को हिलाएँ। बायीं करवट लेकर धीरे से उठकर बैठ जाएँ।

विशेष : श्वासन कभी भी किया जा सकता है। जब कभी हम तनावग्रस्त या थके हुए हों, तुरंत पाँच-दस मिनट के लिए श्वासन करें। तनाव और थकान से अवश्य छुटकारा मिलेगा। अनिद्रा और उच्च रक्तचाप के समाधान में यह बहुत ही सहायक है। चित्त को शांत कर ध्यान लगाने में उपयोगी है।

शिविर के दिनों में स्व-सूचन का, आत्म-निर्देशन का अच्छी तरह अभ्यास कर लें ताकि घर जाकर भी इसे स्वतः कर सकें। प्रत्येक संकेत बड़े प्यार भरे कोमल स्वर में दें। आज्ञापक या आदेशात्मक शब्दों का उपयोग न करें।

प्राण-शुद्धि

प्राणायाम

5 मिनट

आसनों के बाद क्रम आता है प्राणायाम का। हमारा जीवन प्राण-शक्ति से संचालित है। 'प्राण' मन, वाणी और कर्म की सम्पादन-शक्ति का पर्याय है। प्राण-शक्ति जितनी स्वस्थ, शुद्ध और संतुलित होगी, हमारा चिंतन-मनन और रहन-सहन भी उतना ही स्वस्थ, शुद्ध और संतुलित होगा।

प्राण-तत्त्व आत्मा और शरीर का सेतु है। मनुष्य चौबीस घंटों में लगभग पचीस हजार श्वासोच्छ्वास लेता है। प्राणायाम का मूल उद्देश्य है प्राण को विस्तार देना। हमारी प्राण-शक्ति सध जाए तो श्वास-प्रश्वास की गति घटकर प्रतिदिन लगभग आठ-दस हजार तक लाई जा सकती है, जिसका अर्थ है - अपेक्षाकृत अधिक शांत, आनन्दमय और दीर्घ जीवन। प्राणायाम इस प्राण-शक्ति को साधने का प्रयोग है।

हमारा श्वास-प्रश्वास स्वतः जैसा चल रहा है, उसके प्रति हमारी कोई सजगता-सचेतनता नहीं है। कई तरह की अच्छी-बुरी संवेदनाओं का मन पर प्रभाव पड़ता है, जिससे प्राणधारा असंतुलित हो जाती है। प्राणधारा के इस विचलन को समाप्त कर पुनः संयमित, संतुलित करना ही प्राणायाम है। इससे शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक तनावों से मुक्त होने में मदद मिलती है। प्राणायाम स्वस्थ, सुन्दर और सुदीर्घ जीवन की कुंजी है। यह भटकती हुई मनोवृत्तियों पर नियंत्रण स्थापित करने का उपक्रम है।

प्राणायाम के कई भेदोपभेद हैं, लेकिन ध्यान-साधना के लिए सर्वाधिक उपयोगी नाड़ी-शुद्धि प्राणायाम है, जिसकी विधि इस प्रकार है -

विधि : सुखासन में बैठें। प्राणायाम करने के लिए हाथ की नासिक मुद्रा बनाएँ।

तर्जनी और मध्यमा अँगुली को हथेली की तरफ मोड़ दें। अँगूठा और अनामिका तथा कनिष्ठा अँगुली खुली रखें। दायीं नासिका को बन्द करने के लिए अँगूठे का और बायीं नासिका को बन्द करने के लिए कनिष्ठा और अनामिका अँगुली का प्रयोग करें। बाएँ से साँस भरें, दायें से छोड़ दें। फिर दायें से साँस भरें, बायें से छोड़ दें।

रेचक का समय पूरक से कम-से-कम दो गुना या इसके गुणनफल में हो अर्थात् साँस छोड़ने का समय साँस भरने के समय से दो गुना अथवा ज्यादा हो।

यह नाड़ी-शुद्धि का एक चक्र है, इसे नौ बार दोहराएँ। साँस भरते हुए उसकी शीतलता और छोड़ते हुए ऊष्मा का अनुभव करें।

खाली पेट, शौच से निवृत्त होकर सूर्योदय से पूर्व या सूर्यास्त के पश्चात् इसका अभ्यास करें। जो लोग योगाभ्यास के लिए समय न निकाल पाएँ, वे नाड़ी-शोधन प्राणायाम अवश्य ही कर लें।

लाभ : तीन से छह माह के निरन्तर एवं मनोयोग पूर्ण अभ्यास से इसके लाभ प्रत्यक्ष होने लगते हैं। शरीर हल्का एवं कान्तिमय हो जाता है। आँखों की चमक विकसित होती है। भूख बढ़ती है। शारीरिक एवं मानसिक एकाग्रता का विकास होता है। चित्त की चंचलता और कषायों का शमन होता है। ज्ञान-शक्ति, मेधा, प्रतिभा का प्रस्फुटन होता है। शरीर के मोह से मुक्त होकर चैतन्य अनुभव होता है।

चैतन्य-ध्यान

प्रार्थना, आसन, प्राणायाम के अभ्यास से ध्यान में उतरने की भूमिका बन जाती है। शरीर की जड़ता एवं मन की तंद्रिलता समाप्त होकर प्रफुल्लता का विकास होता है। हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर अभिमुख हुए। इस भाव-भूमि पर ध्यान का अवतरण सहज संभव है। अतः अब साधकों को प्रातःकालीन ध्यान की साधना करनी चाहिए। चैतन्य-ध्यान में प्राणायाम, ओंकार मंत्र और आत्म-सजगता का सम्मिश्रित आधार देते हुए अन्तर्यात्रा की जाती है। चैतन्य-ध्यान एक प्रकार से 'ओंकार-ध्यान' है। ओंकार बीज-मन्त्र के द्वारा अन्तर्मन की एकाग्रता, स्वच्छता और चैतन्य-जागरण ही चैतन्य-ध्यान का ध्येय है।

चैतन्य-ध्यान के पाँच चरण हैं -

- | | | |
|-----------------|---|---------|
| 1. ओंकारनाद | - | 7 मिनट |
| 2. सहज स्मृति | - | 10 मिनट |
| 3. अन्तर्यात्रा | - | 10 मिनट |
| 4. अन्तर्मन्थन | - | 3 मिनट |
| 5. चैतन्य-बोध | - | 10 मिनट |

सर्वप्रथम ध्यान के लिए सुविधाजनक आसन (बैठने की मुद्रा) का चयन करें, जिसमें हम लगभग 45 मिनट स्थिरता से सुखपूर्वक बैठ सकते हों। पद्मासन, सिद्धासन, वज्रासन, सुखासन ध्यान के लिए उपयुक्त हैं। सिद्धासन विशेष अनुकूल रहता है। खड़े होकर भी ध्यान किया जा सकता है। जिन्हें तंद्रा अधिक सताती हो, उन्हें खड़े होकर ही ध्यान करना चाहिए। अस्वस्थता आदि अपरिहार्य स्थितियों में लेटकर भी ध्यान किया जा सकता है, पर इसे आदत नहीं बनाना चाहिए।

उपयुक्त आसन का चुनाव कर सहज स्थिर बैठें। पूरे शरीर का मानसिक निरीक्षण कर यह जाँचें कि शरीर के किसी भाग में तनाव या जकड़न शेष है? मानसिक निर्देश से उस अंग के तनाव को शिथिल करें। आंतरिक प्रसन्नता को खिलने दें। नेत्र बन्द करें। अंतरदृष्टि से गुरुदर्शन करते हुए ध्यान का संकल्प लें और चैतन्य-ध्यान का प्रवेश करें।

किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने से पूर्व संकल्प, पूर्व-भूमिका का काम करता है। संकल्प हमें लक्ष्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है। इसके लिए जरूरी है कि संकल्प दृढ़ हो, संकल्प का सदा स्मरण रहे, एवं संकल्प को क्रियान्वित करें। यह संकल्प वास्तव में ध्यान की दीक्षा है। सद्गुरु के चरणों में बैठकर दीक्षित होने के पश्चात् ध्यानमार्ग में प्रवृत्त हुआ जाता है क्योंकि यही गुरु और साधक के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है।

‘शरण-सूत्र’ बोलकर उपसंपदा स्वीकार करें -

शरण-सूत्र

अरिहंते सरणं पवज्जामि।

सिद्धे सरणं पवज्जामि।

साहू सरणं पवज्जामि।

धम्मं सरणं पवज्जामि।

अप्यं सरणं पवज्जामि ॥*

प्रथम चरण : ओंकारनाद

गहरी साँस भरें। नाभि पर ध्यान केन्द्रित कर ओम् का उच्चारण करें। एक बार उद्घोष, फिर तीन बार सहज साँस, फिर उद्घोष। ओंकारनाद की प्रक्रिया में ध्यान नाभि/शक्ति-केन्द्र से प्रारंभ होकर ऊपर उठता हुआ क्रमशः हृदय, कंठ,

* भावार्थ : अरिहंत, सिद्ध, साधु, धर्म और आत्मा की शरण स्वीकार करता हूँ।

नासिका मूल, भृकुटि, ललाट से गुजरता हुआ शिखा/सहस्रार तक जाए। प्रत्येक स्तर पर ओंकार ध्वनि के वर्तुल प्रकंपनों को अनुभव करने का प्रयास करें। नाभि, हृदय, कंठ, कान एवं कपाल पर ओम् की अनुगूँज को सुनने का प्रयास करें। निरन्तर अभ्यास से जैसे-जैसे इंद्रियाँ अंतमुखी होने लगती हैं, प्रकम्पनों की सूक्ष्म संवेदनाओं को ग्रहण करने की क्षमता विकसित हो जाती है। नाद के प्रति अपनी सजगता बनाए रखें। नाभि, हृदय और कंठ से गुजरते हुए 'ओ' एवं भृकुटि-मध्य, ललाट और कपाल पर 'म्' का नाद होना चाहिए। अपने होश को पूरी तरह नाद के साथ जोड़ने पर ही यह संभव होगा। इसलिए पूर्ण सजगता, जागरूकता अत्यंत आवश्यक है। इस तरह साँस भरते-छोड़ते हुए पाँच बार सस्वर ओंकारनाद करें। शनैः-शनैः ओंकारनाद को यथासंभव अधिक-से-अधिक लंबा और गहरा करने का प्रयास करें। **पाँच बार इस रीति से ओंकारनाद संपन्न होने पर दो बार उच्च स्वर में ओंकार का उद्घोष करें।**

ओम् की पराध्वनि और उसके प्रकंपनों के प्रति अपनी सजगता और बढ़ाएँ। इस तरह ओंकार का पाँच बार सामान्य और दो बार तीव्र स्तर से उद्घोष करने के उपरान्त ओम् की अनुगूँज प्रारंभ करें। अनुगूँज ओंकारनाद का दूसरा चरण है। होंठ बन्द हों। जीभ अचल हो। केवल अंदर-ही-अंदर ओम् का गुंजारण करें। इस अनुगूँज को नासामूल/भृकुटि मध्य पर अनुभव करें और चेतना की गहराई में उतरने दें। बाहर की किसी भी ध्वनि पर ध्यान न दें, केवल अनुगूँज पर ही अपनी पूरी चेतना केन्द्रित करें।

अनुगूँज भी पहले पाँच बार सामान्य स्वर में और अंत में दो बार उच्च एवं तीव्र स्वर में संपन्न कर एकदम मौन, शांत हो जाएँ। अभी कुछ समय तक ध्वनि के प्रकंपन अनुभव होंगे। अपनी सजगता को पूरी तरह अनुगूँज के प्रकंपनों पर केन्द्रित करें। नाद की परा-तरंगें जब शरीर की प्रतिरोधिगामिनी तरंगों से एकलय होती हैं, तो शरीर में शांति प्रकट होने लगती है, यही प्रथम चरण की पृष्ठभूमि है।

द्वितीय चरण : सहज स्मृति

इस चरण में अंदर-ही-अंदर ओम् का मानसिक जाप करते हैं। जाप में निरन्तरता और लायबद्धता होनी चाहिए, अतः ओम् में स्मरण को सहज साँस के साथ जोड़ें। **एक साँस में एक बार ओम् का मानसिक जाप करें।** ओम् को ही अपने चिंतन का केन्द्र बनाएँ। कोई शारीरिक संवेदना, मानसिक विकल्प, विचार उभरें, तो उन पर ध्यान न दें, न ही उन्हें उठने से रोकें। उन्हें अपना काम करने दें पर स्वयं को उनसे पृथक् अनुभव करते हुए केवल ओम् पर चित्त को एकाग्र करें। दस

मिनट तक इसी तरह एकाग्रचित्त होकर प्रत्येक सहज साँस के साथ निरन्तर ओम् का स्मरण पूरी समग्रता और गहराई से जारी रखें। भृकुटि मध्य पर प्रकाशमय उज्वल ओम् की आकृति देखें। मस्तिष्क को ओम् की आवृत्तियों से भर जाने दें।

इस द्वितीय चरण में मन का कोलाहल शांत होना शुरू होता है और साधक के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का निर्माण होता है।

तृतीय चरण : अन्तर्यात्रा

तृतीय चरण में ओम् के स्मरण के साथ श्वास की गति मंद से मंदतर करनी है। साँस धीमी हो और सहयात्री हो ओम्। इस चरण में अन्तर्मन के साथ ओम् की सहयात्रा होती है।

द्वितीय चरण की तरह एक साँस के साथ एक ओम् की आवृत्ति जारी रहे, लेकिन अब सहज साँस के स्थान पर मंद साँस हो अर्थात् साँस की गति कम होती जाए। प्रत्येक साँस पर ओम् पूरी तरह फैला हुआ हो। एक भी साँस बिना ओम् को साथ लिए न आए, न जाए। लगभग पाँच मिनट तक ओम् की मंद साँस के साथ सहयात्रा जारी रहे। सहयात्रा का प्रथम भाग इस तरह संपन्न हुआ। अब साँसों की मंदगति बरकरार रखते हुए साँसों की गहराई बढ़ाएँ। साँसों के स्पन्दन ठेठ नाभि के नीचे तक भी अनुभव करें और ओम् को इस गहराई में उतारें। **गहरी दीर्घ साँसों के साथ ओम् का गहरा स्मरण लगातार पाँच मिनट तक जारी रहे।**

इस चरण में ओम् अवचेतन मन में स्वतः उतरने लगता है एवं शरीर के विभिन्न चेतना-केन्द्र सक्रिय निर्मल होते हैं।

चतुर्थ चरण : अन्तर-मंथन

अब श्वास-प्रश्वास को तीव्रता प्रदान करें। धीरे-धीरे साँसों की गति बढ़ाएँ और प्रत्येक साँस के साथ ओम् का गहन स्मरण करें। साँसों की गति निरन्तर बढ़ाते चले जाएँ और उतनी ही तीव्र गति से ओम् की आवृत्ति भी। ओम् और साँस, साँस और ओम्। अपने एक-एक अणु, एक-एक रोम, एक-एक स्नायु को साँसों के द्वारा ओम् की चेतना से जाग्रत करें। अनुभव करें, मानस में इस दृश्य को साकार करें कि हमारा कण-कण शुभ्र प्रकाश से चमकने लगा है और हमारे अन्तर्मन के कषाय और विकार साँस के माध्यम से तीव्र गति से बाहर फेंके जा रहे हैं। तीव्र श्वास-प्रश्वास के साथ ओम् के स्मरण को अधिकतम तीन मिनट तक जारी रखें।

तृतीय चरण में ओम् अवचेतन मन की गहराई में उतरता है, जबकि चतुर्थ चरण में यह अवचेतन मन को भी शान्त कर साधक को चैतन्य से भर देता है। तन-मन

ऊर्जस्वित हो जाता है।

पंचम चरण : चैतन्य-बोध

श्वास को तीव्रतापूर्वक छोड़कर स्वयं को रिक्त कर लें और अन्तर् के शून्य में डूब जाएँ। विश्राम, परम मौन! इस चरण में कोई क्रिया-प्रतिक्रिया, प्रयास नहीं करना है। केवल साक्षी होकर देखना है। संसार से, समाज से, परिवार से, चित्त से, कषायों से भिन्न अपने चैतन्य को देखें, अनुभव करें। स्वयं में ऊर्जा-जागरण और विद्युत प्रकंपनों का अनुभव होगा। लगभग दस-पन्द्रह मिनट तक अपने सहज स्वरूप में निमग्न रहें।

पंचम चरण की अन्तिम स्थिति है - जीवन की अस्तित्वगत अशांति का सम्पूर्ण समाधान, समस्त चिन्ताओं से मुक्ति और सच्चिदानन्द स्वरूप में अन्तरलीनता, अहोदशा। जब तक यह लीनता बनी रहे, तब तक डूबे रहें।

सामान्य स्थिति में आने के लिए तीन गहरे साँस लें। हथेलियों को जोर से रगड़कर हल्के से आँखों पर रखें। हाथों में प्रवाहित हो रही ऊर्जा का अनुभव करें। हाथ आँखों से हटाकर धीरे-धीरे आँखें खोलें। जो भी प्राणी या व्यक्ति सर्वप्रथम सामने नज़र आए उसे प्रभु-रूप मानकर मुस्कराकर प्रणाम अर्पित करें।

भाव-उत्सव

आत्मिक आनंद में डूबकर सामूहिक रूप से सस्वर 'भाव-गीत' का पाठ करें जो मैत्री, करुणा, प्रमुदितता और समता की हम पर अमृत वृष्टि करता है।

भाव-गीत

परम प्रेम की रहे प्रेरणा,
हृदय हमारा रोशन हो।
मैत्रीभाव के मधुर गीत से,
सारी धरती मधुवन हो॥
खुद जिएँ सुख से, औरों को
सुख पहुँचाने का प्रण हो।
हँसता-खिलता हो हर चेहरा,
स्वर्ग सरीखा जीवन हो॥
दीन-दुखी जीवों की सेवा,
परमेश्वर का पूजन हो।

घर आयों के आँसू पोंछे,
खुशहाली हर आँगन हो ॥

पथ-भूलों को पथ दरशाएँ,
धर्म-भावना हर उर हो ।
हर दरवाजा राम-दुवारा,
हर मानव एक मंदिर हो ॥

आत्म-बोध की रहे रोशनी,
आँखें मन की निर्मल हों ।
नमस्कार है हुलसित उर से,
सकल धरा धर्मस्थल हो ॥

निवेदन : भावगीत के समापन के साथ ही सभी साधकों से निवेदन किया जाये कि हम अपनी दिनचर्या के प्रत्येक कार्य को प्रसन्नता, मनोयोग एवं बोधपूर्वक सम्पादित करें। हर तरह की प्रतिक्रिया से बचते हुए सुख-शांति के स्वामी बने रहें। सबके प्रति प्रेम, पवित्रता और मैत्री का व्यवहार रखें। सात्विक आहार और मित-मधुर वाणी का उपयोग करें। यथासंभव मौन रखें। हर तरह के व्यसन से परहेज रखते हुए जीवन और व्यवहार को शुद्ध-संयमित बनाये रखें। हमारी प्रामाणिकता हमारी पहचान का प्रमुख चरण हो।

‘गुरुवंदना’ के साथ ध्यान-सत्र का समापन करें एवं गुरुदेव का उद्बोधन (प्रत्यक्ष या कैसेट प्रवचन) सुनकर आत्मबोध उपलब्ध करें।

गुरु-वंदना

गुरु की मूरत रहे ध्यान में,
गुरु के चरण बनें पूजन ।
गुरु-वाणी ही महामन्त्र हो,
गुरु-प्रसाद से प्रभु-दर्शन ॥

सभी एक-दूसरे को अध्यात्म-पथ का सहयात्री और प्रभु की मूरत मानते हुए, परस्पर अभिवादन करें, नमस्कार करें।





संबोधि-भाव

प्रार्थना

10 मिनट

गोधूलि वेला में साधकगण पंक्तिबद्ध होकर बैठें और तीन बार नवकार मंत्र का सस्वर सामूहिक पाठ करें। नवकार-मंत्र के उपरान्त गुरुदेव की संबुद्ध-प्रज्ञा से सृजित अनूठी रचना 'संबोधि-सूत्र' का संगीतमय गायन ध्यान की समझ को विकसित करने में सहायक होगा -

संबोधि-सूत्र

अन्तस् के आकाश में, चुप बैठा वह कौन!
 गीत शून्य के गा रहा, महागुफा में मौन ॥ 1 ॥
 बैठा अपनी छाँह में, चितवन में मुस्कान।
 नूर बरसता नयन से, अनहद अमृत पान ॥ 2 ॥
 शान्त हुई मन की दशा, जगा आत्म-विश्वास।
 सारा जग अपना हुआ, आँखों भर आकाश ॥ 3 ॥
 मेरा-तेरा भाव क्या, जगत एक विस्तार।
 जीवन का सम्मान हो, बाँहों भर संसार ॥ 4 ॥

परम-प्रेम, पावन-दशा, जीवन के दो फूल ।
 बिन इनके यह चेतना, जमीं रजत पर धूल ॥ 5 ॥
 दृष्टि भले आकाश में, धरती पर हों पाँव ।
 हर घर में तरुवर फले, घर-घर में हो छाँव ॥ 6 ॥
 मंदिर का घंटा बजे, खुले सभी की आँख ।
 दिव्य-ज्ञान के सबद दो, मिले पढ़न हर साँझ ॥ 7 ॥
 शुभ करनी हर दिन करें, टले न कल पर काम ।
 सातों दिन भगवान के, फिर कैसा आराम ॥ 8 ॥
 साधु नहीं, पर साधुता पर सकता इंसान ।
 पंक बीज पंकज खिले, हो अपनी पहचान ॥ 9 ॥
 कोरा कागज जिंदगी, लिख चाहे जो लेख ।
 इन्द्रधनुष के रूप-सा, हो अपना आलेख ॥ 10 ॥
 ज्योति-कलश है जिंदगी, सबमें सबका राम ।
 भीतर बैठा देवता, उसको करो प्रणाम ॥ 11 ॥
 काया मुरली बाँस की, भीतर है आकाश ।
 उतरें अन्तर्-शून्य में, थिरके उर में रास ॥ 12 ॥
 मन के कायाकल्प से, जीवन स्वर्ग समान ।
 भक्ति से श्रृंगार हो, रोम-रोम रसगान ॥ 13 ॥
 मन मन्दिर इंसान का, मरघट, मन श्मशान ।
 स्वर्ग-नरक भीतर बसे, मन निर्बल, बलवान ॥ 14 ॥
 मन की गर दुविधा मिटे, मिटे जगत्-जंजाल
 महागुफा की चेतना, काटे मायाजाल ॥ 15 ॥
 जग जाना, पर रह गये, खुद से ही अनजान ।
 मिले न बिन भीतर गये, भीतर का भगवान ॥ 16 ॥
 'समझ' मिली, तो मिल गयी, भवसागर की नाव ।
 बिन समझे चलते रहे, भटके दर-दर गाँव ॥ 17 ॥
 मोक्ष सदा सम्भव रहा, मोक्ष-मार्ग है ध्यान ।
 भीतर बैठे ब्रह्म को, प्रमुदित हो पहचान ॥ 18 ॥

मनोभाव, अन्तर्दशा, समझ सका है कौन?
बोले, वह समझे नहीं, जो समझे, सो मौन ॥ 19 ॥
सद्गुरु बाँटे रोशनी, दूर करे अंधेर।
अंधों को आँखें मिलें, अनुभव भरी सबेर ॥ 20 ॥
प्रज्ञा-पुरुष प्रकाश दे, अन्तर्-दृष्टि योग।
समझ सके जिससे स्वयं, मन में कैसा रोग ॥ 21 ॥
चित्-शक्ति की चेतना, अन्तस् का आह्लाद।
मुखरित होता मौन में, शाश्वत सोहं नाद ॥ 22 ॥
नया जन्म दे स्वयं को, साँस-साँस विश्वास।
छाया दे संसार को, पर निस्पृह आकाश ॥ 23 ॥
मुक्ति मानव मात्र का, जीवन का अधिकार।
मन की खट-पट जो मिटे, तो हो मुक्त विहार ॥ 24 ॥
समझे वृत्ति-स्वभाव जो, साक्षी-भाव के साथ।
तो समझो होने लगा, उर में सहज प्रभात ॥ 25 ॥
रूप बने, बन-बन मिटे, चिता सजी सौ बार।
जनम-जनम के योग को, दोहराया हर बार ॥ 26 ॥
संबोधि से टूटती, भव-भव की जंजीर।
जरा झाँककर देख लो, अन्तस् में महावीर ॥ 27 ॥
सोने के ये पींजरे, मन के कारागार।
टूटे पर, कैसे उड़े, नभ में पंख पसार ॥ 28 ॥
हर मानव से प्रेम हो, हो चैतन्य-विकास।
आत्मोत्सव के रंग में, भीगी हो हर साँस ॥ 29 ॥
कालचक्र की चाल में, बनते महल मसान।
फिर कैसा मन में गिला, सदा रहे मुस्कान ॥ 30 ॥
बीते का चिन्तन न कर, छूट गया जब तीर।
अनहोनी होती नहीं, होती वह तक्रदीर ॥ 31 ॥
करना था, क्या कर चले? बनी गले की फाँस।
पंक सना, पंकज मिला, बदलें अब इतिहास ॥ 32 ॥

सच का अनुमोदन करें, दिखे न पर के दोष
जीवन चलना बाँस पे, छूट न जाये होश ॥ 33 ॥

बसैं नियति के नीड़ में, प्रभु का समझ प्रसाद।
भले जलाये होलिका, जल न सके प्रह्लाद ॥ 34 ॥

‘कर्ता’ से ऊपर उठें, करें सभी से प्यार।
ज्योत जगाये ज्योत को, सुखी रहे संसार ॥ 35 ॥

शान्त मनस् ही साधना, आत्म-शुद्धि निर्वाण।
भीतर जगे चेतना, चेतन में भगवान् ॥ 36 ॥

शाम के समय शरीर दिनभर की व्यस्त जीवनचर्या की आपाधापी से थका हुआ होता है। प्रवृत्तियों का तनाव तन-मन पर हावी रहता है। अतः ध्यान में उतरने से पूर्व इस तनाव से मुक्त होना आवश्यक है। इसके लिए दो विधियाँ प्रस्तुत हैं -

1. कायोत्सर्ग - जब शारीरिक थकान प्रबल हो या जिन लोगों की आजीविका शारीरिक श्रम-प्रधान हो, उनके लिए यह विधि अनुकूल है।

2. तनावोत्सर्ग - जिनका मन क्लान्त हो, उदास हो, प्रमाण या मानसिक तनाव से ग्रस्त हो अथवा जिनकी दिनचर्या मानसिक श्रम-प्रधान हो, उनके लिए यह विधि उपयुक्त है।

कायोत्सर्ग

5 मिनट

मन को हम ध्यान में लगाएँ, उससे पूर्व शरीर को भी ध्यानमय बना लें। इसके लिए हम कायोत्सर्ग-ध्यान करें। कायोत्सर्ग मृत्यु-बोध अथवा विदेह-बोध की प्रक्रिया से गुजरने की कला है। देह-भाव और देह-राग को छोड़ते हुए विदेहानुभूति के लिए कायोत्सर्ग की प्रक्रिया अपने आप में एक विशिष्ट प्रयोग है। यह संबोधि-ध्यान में प्रवेश के पूर्व की तैयारी है।

प्रक्रिया से गुजरने के लिए खड़े होकर, बैठकर या लेटकर सर्वप्रथम धीरे-धीरे श्वास लेते हुए पूरे शरीर में कसावट दें, श्वास को रोकते हुए सम्पूर्ण ऊर्जा के साथ समस्त मांसपेशियों को नाभि की ओर दो क्षण के लिए खिंचाव दें और तत्क्षण उच्छ्वास के साथ शरीर ढीला छोड़ दें। यह प्रक्रिया कुल तीन बार करें।

अब शरीर के प्रत्येक अंग को मानसिक रूप से देखते हुए एक-एक अंग को शिथिल होने के लिए आत्म-निर्देशन दें। प्रातःकालीन सत्र के श्वासन की तरह का अनुभव करें।

दाहिने पैर के अँगूठे, अँगुलियाँ, तलवा, पंजा, एड़ी, टखना, पिंडली, घुटना, जाँघ, नितंब, कटि-प्रदेश को क्रमशः शिथिल करें। इसी क्रम से बायें पैर को शिथिल करें। फिर क्रमशः दायें और बायें हाथ के अँगूठे, अँगुलियों, हथेली, पृष्ठ भाग, कलाई, हाथ, कोहनी, भुजा एवं कंधों को शिथिलता का सुझाव दें। तदुपरान्त पेट, पेट के अंदरूनी अवयव, विसर्जन-केन्द्र, बड़ी आँत, छोटी आँत, पक्वाशय, अमाशय, किडनी, लीवर आदि, हृदय फेफड़े, पसलियाँ, अन्न-नली, श्वास-नली, पूरी पीठ, रीढ़ की हड्डी, ईड़ा, पिंगला और सुषम्ना नाड़ियाँ, समस्त स्नायु, कंठ और गर्दन के भाग को शिथिल करें। इसके बाद चेहरे के एक-एक अंग - दुड्डी, होंठ, गाल, आँख, कान, नाक, ललाट, सिर, बाल, मस्तिष्क के स्नायु और कोषाओं को भीतर तक देखते हुए शिथिल करें। शरीर के तादात्म्य को तोड़ें। निर्भारता का अनुभव करें।

अपने आत्म-प्रदेशों को स्थूल काया से बाहर अनन्त आकाश में विहार करते हुए देखें। स्वयं को निरंतर विराट होकर अखिल ब्रह्माण्ड में फैलता हुए अनुभव करें। धीरे-धीरे अपने विराट हुए अस्तित्व को समेटना प्रारम्भ करें और एक चमकते प्रकाश के अणुरूप में, बिंदुरूप में इस तरह काया में लौटें जैसे हमारा नया जन्म हुआ हो। गहरी साँस के साथ चेतना का संचार करें लेकिन तनाव-मुक्ति बरकरार रखें।

तनावोत्सर्ग

5 मिनट

कायोत्सर्ग की ही तरह शरीर के एक-एक अंग का मानसिक निरीक्षण करें, लेकिन शिथिलता के स्थान पर प्रत्येक अंग में प्रसन्नता और मुस्कराहट को विकसित करें। पैर के अँगूठे से प्रारम्भ कर सिर तक यानी रोम-रोम को प्रमुदितता और अन्तर्-प्रसन्नता का आत्म-सुझाव दें। अंत में अपने चेहरे पर विशेषकर होंठ, आँख और मस्तिक पर आनन्द-भाव को केन्द्रित करें और मन-ही-मन मुस्कराएँ-खिलखिलाएँ। यदि अब भी तनाव महसूस हो, तो खिलखिलाकर हँसते हुए लोटपोट हो जाएँ।

आत्मनिरीक्षण करें और देखें कि यदि अब भी तनाव बाकी है तो हास्य को और विकसित करें और तब तक हँसे, खिलखिलाएँ जब तक थक न जाएँ।

हँसते हुए लोटपोट हो जाना अपने आप में तनाव-मुक्ति का सबसे सरल साधन है। जो हर हाल में प्रसन्न, प्रमुदित रहते हैं, वे तनावरहित होते हैं। मनुष्य के शरीर में 650 मांसपेशियाँ होती हैं, एकमात्र हँसने से ही दो-तिहाई मांस-पेशियों के साथ शरीर की सभी कोशिकाएँ एवं केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र प्रफुल्लित हो उठता है और

मनोमस्तिष्क भी खिल उठता है ।

हो सकता है इस प्रक्रिया में हँसते-हँसते हमारी रुलाई फूट पड़े और हम जोर-जोर से रोने लगे पर उसे रोकने का प्रयास न करें । खुलकर रो लें । आँसुओं के ये फूल गुरु-चरणों में अर्पित करें और तनाव-मुक्त हो जाएँ ।

अवसाद के रोगी यदि इस प्रक्रिया को प्रतिदिन अपनाएँ, तो लगातार तीन माह के प्रयोग से वे रोग-मुक्त हो सकते हैं ।

संबोधि-ध्यान

45 मिनट

सायंकालीन ध्यान के लिए गुरुदेव द्वारा जो विधि आविष्कृत है, उसे संबोधि-ध्यान की संज्ञा दी गई है । संबोधि का शब्दिक अर्थ है - सम्यक् बोध या सम्पूर्ण बोध । संबोधि-ध्यान की विधि हमारी चेतना पर आच्छादित कषायों के आवरणों को हटाकर शुद्ध, संबुद्ध चैतन्य को प्रकट करने में बहुत ही सहायक हो सकती है । वस्तुतः दिनभर हमारी चेतना सांसारिक प्रवृत्तियों में लिप्त रहती है, औरों के लिए जीती है । लेकिन जिस तरह साँझ ढले पंछी अपने नीड़ में लौटकर विश्राम पाता है, वैसे ही हमारी आत्मा निजस्वरूप में विश्राम चाहती है, स्व में स्थित - स्व + स्थ होना चाहती है ।

सम्यक् समझ का अभाव होने के कारण व्यक्ति मन-बहलाव के साधन अपनाता है, पर ये साधन शांति, मुक्ति और आनन्द देने के बजाय, महज मन को भ्रमित ही करते हैं । हम अपनी बेचैनी का कारण नहीं समझ रहे हैं । बेचैनी का कारण है दिन-भर पर-पदार्थों से लिप्त हुई आत्मा परिश्रान्त होकर अपनी निजता में, अपने मूल अस्तित्व में जीना चाहती है ।

रात के बाहरी अंधकार में अंतर के प्रकाशित होने की, आत्म-प्रकाश के प्रकट होने की संभावना अधिक होती है । क्योंकि साँझ से ही चेतना निजत्व की खोज की बेचैनी और छटपटाहट से भर जाती है । तब इस खोज को आगे बढ़ाने वाले प्रयास अधिक गहरे और सफल हो सकते हैं, क्योंकि उस प्रयास में आत्मा की सहमति भी जुड़ जाती है ।

‘संबोधि-ध्यान-विधि’ ध्यान की बहुत की गहरी विधि है । परिणाम हमारी अभीप्सा, लगन और प्रयासों की सघनता पर निर्भर करता है । अतः हम प्रमाद त्यागकर अपनी ही अथाह गहराइयों में डूबें । बस चार चरणों की ही तो बात है । पाँचवाँ चरण तो मंजिल की उपलब्धि का चरण होगा । डग भरा कि भोर हुई ।

प्रयोग-पद्धति

ध्यान के लिए अपने अनुकूल आसन का चुनाव करें। उपयुक्त मुद्रा अपनाएँ और ध्यान का प्रयोग प्रारंभ करें।

प्रथम चरण : एकाग्रता

5 मिनट

प्रथम चरण में अर्धोन्मीलित नेत्रों से अर्थात् आधी खुली, आधी बन्द आँखों से चित्त को नासाग्र पर केन्द्रित करें। यह त्राटक है। नाक के शिरोबिंदु को लगातार एकटक देखें और मन को हर विषय से हटाकर इसी बिंदु पर एकाग्र करने का प्रयास करें। यदि आँखें थक जाएँ, दृष्टि और विचार भटकें, तो आँखों को एक-दो बार झपकाकर पुनः प्रयोग करें। आँखों से आँसू बहने लगे तो भी चिंतित न हों, प्रयोग जारी रखें। नाक के अग्रभाग के चारों तरफ उभरते हुए आभामंडल को देखने का प्रयास करें। दिन-प्रतिदिन के अभ्यास से यह आभामंडल, प्रकाशकण, प्रकाश-वर्तुल अथवा प्रकाश-रेखा के रूप में प्रत्यक्ष होने लगता है।

यह आभामंडल मनुष्य की चित्त-दशा, चैतन्य-स्थिति और लेश्या-मंडल का प्रतिबिम्ब है एवं चेतना के प्रवाह की झलक है, साथ ही आज्ञाचक्र एवं प्रज्ञा-केन्द्र के सक्रिय होने का सूचक है।

एकाग्रता के इस चरण से चित्त की चंचलता शांत होती है। भावदशा एवं लेश्याओं का बोध होता है।

द्वितीय चरण : अन्तर्-सजगता

10 मिनट

प्रथम चरण से गुजरने के बाद हम अपनी चेतना को साँस के आवागमन के साथ जोड़ें और स्वयं को नासिका मूल स्थित प्रज्ञाकेन्द्र पर केन्द्रित रखें। धीरे-धीरे हम पाएँगे कि हमारी साँसें संतुलित और लयबद्ध हो गई हैं।

साँस के प्रति अपनी सजगता बढ़ाएँ। यह दमित मन के जागरण की स्थिति है, अतः इस सजगता से हमारे विचार-विकल्पों में एक बेचैनी, एक उथल-पुथल मचेगी, जिससे साँसों की गति में भी उतार-चढ़ाव आएँगे। वृत्तियाँ, विकल्प, विचार उठते हैं, तो उठने दीजिए। उन्हें रोकने का प्रयास न करें। हम स्वयं को हर वृत्ति, हर विकल्प, हर विचार से, यहाँ तक कि साँसों से भी अलग रखकर उन्हें तटस्थ द्रष्टा और साक्षी होकर ऐसे देखें, मानो वे हमारे विचार न होकर किसी और के हैं, हमारी वृत्ति न होकर किसी और की है। साँस लेने वाला कोई और है और विचारों को देखने वाला कोई और है।

इस प्रक्रिया से गुजरते हुए हम स्वयं अनुभव करेंगे कि हमारी अन्तर्-सजगता जैसे-जैसे प्रगाढ़ होती है, विचारों एवं वृत्तियों में होने वाली उथल-पुथल स्वतः शांत होती जा रही है। साँसों में पुनः लयबद्धता और संतुलन स्थापित हो रहा है। विचारों-विकल्पों की आवृत्ति कम होती जा रही है और वृत्तियों के आवेग कम होते जा रहे हैं। धीरे-धीरे हम उनसे मुक्त होते जा रहे हैं और हमारा बोधि - केन्द्र जाग्रत होता जा रहा है।

अन्तर्-सजगता के इस चरण से मुख्यतः हमारा अपने अचेतन और अवचेतन मन से सम्पर्क होता है, हम अपनी दमित और उद्दीप्त मनोदशा से परिचित होते हैं। संवेग-उद्वेग, वृत्ति-विकल्प, आर्त-रौद्र मनोपरिणाम शिथिल पड़ते हैं और चित्त-दशा शांत होती है। आत्म-तत्त्व जाग्रत होता है।

तृतीय चरण : अन्तर्यात्र

10 मिनट

अपने विचारों, वृत्तियों से गुजरने और उनसे मुक्त होने के उपरांत साँसों के मध्य से अपनी चेतना को प्राण-क्षेत्र पर लाएँ अर्थात् नाभि और कमर-प्रदेश के मध्य ले जाएँ। यह स्थान आंतरिक शक्ति का केन्द्र है। नाभि से पीछे सुषम्ना तक के ऊर्जा-क्षेत्र पर साँसों को, प्राणों के प्रवाह को केन्द्रित करें। चित्त, मन और बुद्धि को नाभि-प्रदेश के प्राण-क्षेत्र पर उलट डालें। श्वास-धारा मंदतर और पुलकभरी हो। पाशविक वृत्तियों का केन्द्र नाभि से नीचे स्थित है, जिसकी जड़ें ठेठ पाँवों तक फैली हुई हैं। सजगता को नाभि से नीचे एक-एक अंग से गुजारते हुए संवेदनाओं का निरीक्षण कर अँगूठे तक पहुँचें और इन संवेदनाओं से मुक्त होते हुए उल्टे क्रम से वापस ऊपर नाभि पर स्वयं को केन्द्रित करें। इस प्रक्रिया से हमारी पाशविक वृत्तियाँ शान्त-मौन होने लगी हैं।

इस चरण से स्वास्थ्य, प्राण एवं शक्ति-केन्द्र सक्रिय होता है और नीचे की उत्तेजक ग्रन्थियाँ शांत एवं परिष्कृत होती हैं। हमारे आन्तरिक रोग क्षीण होते हैं तथा शरीर की जो तीन-चौथाई ऊर्जा काम-क्रोधजन्य संवेग-आवेग में नष्ट होती है, उसकी रक्षा होती है।

चतुर्थ चरण : चैतन्य जागरण

10 मिनट

गहरे दीर्घ श्वास-प्रश्वास के माध्यम से रीढ़ की हड्डी के अंतिम सिरे के नीचे स्थित शक्ति-कुंड के साथ सभी अन्तस्-केन्द्रों को जगाएँ, प्राणों की समग्रता से शक्ति का जागरण करें। नाभि-केन्द्र पर ऊर्जा का स्वागत और संचय करें। और अब अत्यन्त पुलक के साथ अपनी अन्तर-ऊर्जा को ऊपर उठाते चले जाएँ। हृदय-प्रदेश तक पहुँचें और आनन्द का कमल खिलने दें।

यदि हम अपनी मूल शक्ति को हृदय-प्रदेश तक उठा पाने में सफल हो गये तो मानो हम अपने विकारों से, निम्नवृत्तियों, अशुद्ध चेतना और अशुभ लेश्याओं से कमलवत् ऊपर उठने लगे हैं और अब आगे की यात्रा सुगम हो गई है। क्रोध आदि शक्तियाँ, करुणा और पवित्रता में रूपान्तरित हुई हैं। **दीर्घ एवं गहरे श्वास-प्रश्वास के माध्यम से थोड़ा और प्रयास करके शक्ति को कंठ पर, ऊर्ध्व-शक्ति-केन्द्र/शुद्धि-चक्र तक ले आएँ।** यहाँ आकर शक्ति गहन शांति और प्रसन्न मौन के रूप में अभिव्यक्त होगी। कंठ से सुषम्ना तक फैले हुए ऊर्जा-क्षेत्र पर प्राणों के केन्द्रीकरण से इंद्रियगत मौन का विकास होता है। लेकिन अभी यहीं रुकना नहीं है। अभी चेतना का और उत्थान आवश्यक है। आगे बढ़ते जाइये और **दोनों भौंहों के बीच तिलक वाले स्थान के लगभग एक इंच भीतर ऊर्जा का समीकरण कीजिए।** अपनी चेतना को हर तरह से हटाकर आज्ञा-चक्र पर केन्द्रित कीजिए। बिंदु-रूप आत्म-ज्योति को साकार कीजिए और उस बिंदु को विराट करते-करते संपूर्ण ललाट में, पूरे मस्तिष्क में फैल जाने दें। प्रकाश की एक ज्योति-शिखा को मस्तक के ऊपरी भाग बोधिकेन्द्र सहस्रार तक पहुँचने दें। अधिकतम गहरे दीर्घ श्वास-प्रश्वास से चैतन्य-जागरण के इस चरण को पूर्ण कीजिए।

पंचम चरण : मुक्ति-बोध

10 मिनट

और अंत में शरीर, मन, प्राण को शिथिल छोड़कर हर प्रयास से मुक्त होकर अन्तरलीन हो जाइये - हृदय में आत्मस्थ। डूब जाइये भीतर के अनन्त आकाश में, मुक्ति के अपरिसीम आनंद में, अर्थात् गहन विश्राम, परम मौन, अपूर्व शान्ति, परमानन्द दशा।

सहज स्थिति होने पर परमात्म-रस पगे भजनों का गायन-रसास्वादन करें और भक्तिभाव में रचे-पचे सांध्यकालीन सत्र का समापन करें।

अंत में गुरु-वंदना करें और हाथों की कमल-मुद्रा बनाकर भावार्घ्य गुरु-चरणों में अर्पित करते हुए साधना पथ पर आगे बढ़ने के लिए उनका मंगल आशीष ग्रहण करें। आसन से खड़े हों और सभी को करबद्ध अभिवादन कर रात्रि-विश्राम के लिए विदा लें।



बेहतरीन किताबें

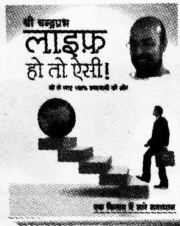
रॉयल साइज, रॉयल मैटर

रॉयल प्रजेडेशन

किताबों की कीमत लगानत से भी कम



जीने की कला
पृष्ठ : 196 मूल्य : 50/-



लाइफ हो तो ऐसी!
पृष्ठ : 144 मूल्य : 40/-



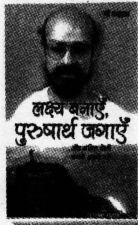
ऐसी हो जीने की शैली
पृष्ठ : 160 मूल्य : 30/-



घर को कैसे स्वर्ग बनाएँ
पृष्ठ : 48 मूल्य : 10/-



प्रेरणा
पृष्ठ : 112 मूल्य : 25/-



लक्ष्य बनाएँ, पुरुषार्थ जमाएँ
पृष्ठ : 128 मूल्य : 40/-



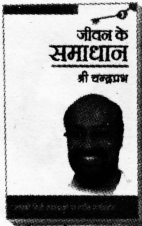
कैसे मिले मधुर जीवन
पृष्ठ : 112 मूल्य : 25/-



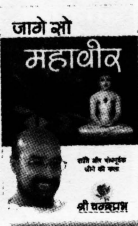
कैसे बनाएँ समय को बेहतर
पृष्ठ : 112 मूल्य : 25/-



योग अपनाएँ, ज़िंदगी बनाएँ
पृष्ठ : 108 मूल्य : 25/-



जीवन के समाधान
पृष्ठ : 160 मूल्य : 80/-



जागे सो महावीर
पृष्ठ : 192 मूल्य : 50/-



जरा मेरी आँखों से देखा
पृष्ठ : 112 मूल्य : 25/-



माँ की ममता हमें पुकारे
पृष्ठ : 32 मूल्य : 8/-



धर्म आखिर क्या है?
पृष्ठ : 168 मूल्य : 40/-



शांति, सिद्धि और मुक्ति पाने का सरल रास्ता
पृष्ठ : 176 मूल्य : 40/-



चिंता, क्रोध और तनाव मुक्ति के सरल उपाय
पृष्ठ : 160 मूल्य : 50/-



पल-पल लीजिए जीवन का आनंद
पृष्ठ : 112 मूल्य : 25/-



यह है रास्ता जीवत धर्म का
पृष्ठ : 120 मूल्य : 25/-



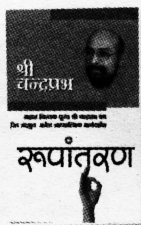
7 दिन में कीजिए स्वयं का कायाकल्प
पृष्ठ : 176 मूल्य : 30/-



मृत्यु से मुलाकात
पृष्ठ : 200 मूल्य : 50/-



ध्यानयोग : विधि और वचन
पृष्ठ : 160 मूल्य : 40/-



रूपान्तरण
पृष्ठ : 160 मूल्य : 25/-



मैं कौन हूँ
पृष्ठ : 112 मूल्य : 25/-



अमृत का पथ
पृष्ठ : 176 मूल्य : 80/-



महागुरु की चेतना
पृष्ठ : 192 मूल्य : 40/-



बजाए अन्तर्मान का इकतारा
पृष्ठ : 192 मूल्य : 40/-



द योग
पृष्ठ : 192 मूल्य : 40/-



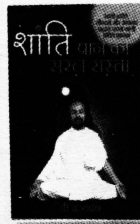
द विपश्यना
पृष्ठ : 160 मूल्य : 30/-



ध्यानयोग
पृष्ठ : 160 मूल्य : 80/-



आत्मा की प्यास बुझानी है तो
पृष्ठ : 112 मूल्य : 25/-



शांति पाते का सरल रास्ता
पृष्ठ : 112 मूल्य : 25/-



अंतर्यात्रा
पृष्ठ : 160 मूल्य : 30/-



ध्यान
पृष्ठ : 160 मूल्य : 25/-



बेहतर जीवन के बेहतर समाधान
पृष्ठ : 126 मूल्य : 25/-



श्रेष्ठ कहानियाँ
पृष्ठ : 128 मूल्य : 25/-



जिएं तो ऐसे जिएं
पृष्ठ : 128 मूल्य : 40/-



महाजीवन की खोज
पृष्ठ : 160 मूल्य : 40/-



जागो वैरे पार्य
पृष्ठ : 250 मूल्य : 45/-



पर्युषण प्रवचन
पृष्ठ : 112 मूल्य : 25/-

न्यूनतम 400/- का साहित्य मंगवाने पर डाक खर्च संस्था द्वारा देय होगा ।
धनराशि SRI JITYASHA SHREE FOUNDATION के नाम से ड्राफ्ट
बनाकर जयपुर के पते पर भेजें । उपरोक्त साहित्य प्राप्त करने हेतु अपना
ऑर्डर निम्न पते पर भेजें ।

श्री जितयशा श्री फाउंडेशन

बी-7, अनुकम्पा द्वितीय, एम. आई. रोड, जयपुर (राज.) 0141-2364737, 2375796

ध्यानयोग

विधि और वचन

ध्यान का मार्ग उनके लिए है जो अध्यात्म की पराचेतना को प्राप्त करने के लिए संकल्पबद्ध हैं। हम ध्यान के मार्ग पर आएँ, ध्यान को आत्मसात् करें। इससे हम शांत मन के साधक तो होंगे ही, बुद्धि से बढ़कर उच्च प्रज्ञा के प्रकाश के अधिपति भी होंगे। जीवन में अद्भुत सुख, शांति और सौन्दर्य होगा।

ध्यान की चेतना को उपलब्ध करने के लिए, ध्यान की समझ को आत्मसात् करने के लिए और ध्यान का गुरु तलाशने के लिए 'ध्यानयोग : विधि और वचन' अपने आप में जीवन-साधना का राजद्वार है। अगर किसी को साधना के पथ पर गुरु का संयोग न मिले तो यह पुस्तक उसके लिए गुरु की भूमिका अदा कर सकती है। यह किताब साधना तथा मील का पत्थर है। संबोधि ध्यान की समझ को आम लोगों के समक्ष रखने में यह किताब सहकारी है।



महोपाध्याय ललितप्रभ सागर जी प्रसिद्ध चिंतक एवं गहरी प्रज्ञा को आत्मसात किए आध्यात्मिक गुरु हैं। अपनी प्रभावी प्रवचन-शैली के लिए ये देशभर में लोकप्रिय हैं। संपूर्ण भारतवर्ष में शांति, सद्भाव एवं सद्ज्ञान के प्रसार के लिए इन्होंने पच्चीस हजार किलोमीटर की पदयात्रा की और मानव-जाति को बेहतर जीवन जीने की कला प्रदान की। कला के प्रसार के लिए सम्मत्शिखर तीर्थ पर म्यूजियम का निर्माण करवाया और साधना के विकास के लिए जोधपुर में संबोधि धाम की स्थापना की। अनेक श्रेष्ठ पुस्तकों का लेखन एवं संपादन, टी.वी. चैनल्स पर विशिष्ट प्रवचनों का प्रसारण और आध्यात्मिक जीवन के विकास के लिए संबोधि ध्यान-शिविरों का आयोजन इनके द्वारा होता रहा है।

